हिन्दी की प्रतिनिधि कहानियाँ

[कहानी-प्रवेश]

सम्पादक

भगवतीप्रसाद वाजपेयी
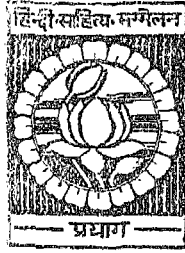
संवत् २००२

हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग

विषय-सूची

लेखक	विषय	पृष्ठ
	कथा मीमांसा	

प्रकाशक का वक्तव्य

श्रीमान् बड़ौदा-नरेश सर सयाजीराव गायकवाड़ महोदय ने बम्बई के सम्मेलन में स्वयं उपस्थित होकर पाँच सहस्र रुपये की सहायता सम्मेलन को प्रदान की थी। उस सहायता से सम्मेलन ने सुलभ-साहित्य-माला के अंतर्गत कई सुन्दर ग्रन्थों का प्रकाशन किया है। अन्य हिन्दी-प्रेमी श्रीमानों के लिये स्वर्गीय बड़ौदा-नरेश का यह कार्य अनुकरणीय है।

प्रस्तुत कहानी-संग्रह में हिन्दी के प्रसिद्ध कहानी-लेखकों की सुन्दर रचनाओं का संकलन है। इसके सम्पादक श्री भगवतीप्रसाद वाजपेयी हिन्दी के एक श्रेष्ठ कहानी-लेखक हैं। वाजपेयी जी ने इस संग्रह का सुरुचिपूर्ण ढंग से सम्पादन किया है।

यह बता देना उचित होगा कि संग्रह में दिया हुआ कहानियों का क्रम लेखकों के साहित्यिक स्थान से कोई सम्बन्ध नहीं रखता। इस विषय में अकारादि क्रम का अनुसरण किया गया है।

साहित्य-मंत्री

कथा-मीमांसा

कहानी का जन्म मानव-सृष्टि के साथ-ही-साथ हुआ है। आदम और हौवा का जो प्रथम संयोग था उसकी भी एक कहानी है। एक प्रकार से वही कहानी सृष्टि की समस्त कहानियों की मूल प्रेरणा है। उस कहानी में कुछ ऐसा रहस्य छिपा हुआ है, जो इस अखिल सृष्टि के सृजन में भी अन्तर्हित प्रतीत होता है। जान पड़ता है, सृष्टि-रचना के अन्तर्गत कहानी कला के समस्त परमाणु विद्यमान थे।

प्रायः कहानी का मूलाधार कुतूहल में रहता है। नवजात शिशु जब आस-पास की वस्तुओं को देखता है तो उसके हृदय में उन वस्तुओं के प्रति एक जिज्ञासा उत्पन्न होती है। वह जिज्ञासा चाहे उसे प्राप्त करने की हो, चाहे उसके प्रति भय की, पर उससे उन समस्त भावनाओं का प्रादुर्भाव होने लगता है जो रोचक ढंग से सामने रखने में एक कहानी की सृष्टि करती हैं।

किन्तु कहानी का उद्गम वास्तव में वृत्त-वर्णन में है। किसी भी वस्तु का वर्णन करना या उसके प्रति अपने विचार प्रकट करना एक प्रकार से उसकी कहानी कहना है। चिर-वियोग के पश्चात् जब दो मित्र आपस में मिलते हैं तो प्रायः एक दूसरे से कहता है। "अपना हाल-चाल कह जाओ। बोलो, अब तक क्या करते रहे?" यहाँ उसका तात्पर्य वृत्त-वर्णन से रहता है। ऐसा भी देखा गया है कि इस वृत्त-वर्णन के मूल में भी कोई-न-कोई बात अन्तर्हित रहती है। इसलिये कहानी में प्रायः दो व्यक्तियों का मिलन आवश्यक हो जाता है। और तभी यह स्वाभाविक है कि एक व्यक्ति दूसरे से अपनी आन्तरिक भावनाएँ व्यक्त करे, अपने सुख-दुःख का हाल उसको बतावे और अपने प्रति एक सहानुभूति प्राप्त करे। बहुत सम्भव है कि आरंभिक कहानी का उद्गम वेदना से हुआ हो।

कहानी के मूलरूप हमें संसार के समस्त आदिग्रन्थों में मिलते हैं। जितने भी धर्म-ग्रन्थ हैं प्रायः सबमें कहानियाँ हैं। यहाँ तक कि हमारे यहाँ की जो श्रुति है उसमें भी रोचकता लाने के लिये कहानियाँ कही गई हैं। ऋग्वेद की ऋचाओं में यत्र-तत्र अनेक कहानियाँ मिलती हैं। प्रायः उनका रूप कथोपकथन-प्रधान हुआ करता था। ऋग्वेद की 'यमयमी-संबाद की कहानी प्रसिद्ध है। ब्राह्मणग्रन्थों और उपनिषदों में कहानियों का विस्तार कुछ और बढ़ गया है। उस युग में तो कहानी का क्षेत्र कर्म-काण्डियों तक सीमित न रहकर यती-मुनियों तक फैल गया था।

यदि हम अपने इस प्राचीन सनातन हिन्दू धर्म की बात छोड़ भी दें, तो भी हमें अन्य धार्मिक ग्रन्थों में अनेक प्रकार की कहानियाँ मिलती हैं। एक ऐसे व्यक्ति को लेकर, जो प्रायः किसी धर्म का संस्थापक रहा करता था, भाँति-भाँति के चमत्कारपूर्ण वर्णन गढ़ लिये जाते थे। बुद्ध भगवान को लेकर उनके सम्बन्ध में, जातकों में कहानियाँ ही तो कही गई हैं। बाइबिल में ईसा के चमत्कारों की कथाएँ हैं। प्राचीन बाइबिल में यहूदियों का कथा-साहित्य है। जरथुष्ट्र की कथा ज़ेन्द-आवेस्ता में वर्णित है। मुहम्मद साहब क़ुरान की कथाओं के मूल नायक हैं। इस प्रकार हरएक धर्म के आदि-ग्रन्थ कथामूलक है।

इसके अन्दर जब हम महाकाव्यों पर दृष्टिपात करते हैं तो उनमें भी हम कथा-साहित्य ही की विशेषता पाते हैं। रामायण और महाभारत यदि भारतीय साहित्य से निकाल दिये जायँ, तो कुछ अपवादों को छोड़कर कथा-साहित्य क्या, किसी भी प्रकार का साहित्य न रह जायगा। होमर के 'ईलियड और 'ओडेसी' ने भी इसी प्रकार पाश्चात्य साहित्य पर बहुत अधिक प्रभाव डाला है।

क्रम-विकास की दृष्टि से देखा जाय, तो कहानी की तीसरी पीढ़ी उपदेशपूर्ण छोटी-छोटी कहानियों की है। इसी कोटि में ईसप की कहानियाँ, पंच तंत्र और हितोपदेश आते हैं।

इस प्रकार कहानी के विकास में यदि धार्मिक साहित्य ने उच्च चरित्रों के द्वारा चरित्र-चित्रण प्रदान किया तो महाकाव्यों ने घटनाओं की सृष्टि की। कहानी में वीरता, युद्ध-प्रेम तथा कलह आदि भावनाओं की सृष्टि महाकाव्यों के ही द्वारा हुई। और इस प्रकार कहानी के उद्देश्यों की पूर्ति प्रारम्भ में पंचतंत्र आदि की उपदेश-पूर्ण कहानियों द्वारा हुई। एक प्रकार से उन्होंने विश्व-साहित्य को आच्छादित कर लिया।

यद्यपि कहानी विश्व-साहित्य की सबसे आदिम वस्तु है; फिर भी उसे आधुनिक आख्यायिका या छोटी कहानी (Short Story) का रूप गत शताब्दी ही में प्राप्त हुआ है। इसका कारण है। गत शताब्दी के पहले उपन्यास लिखे जाते थे। योरपीय साहित्य में जिस लेखक की दो पुस्तकों से कम कृतियाँ प्रकाशित होती थीं उसकी गणना लेखकों में नहीं होती थी। यही हाल कथा-साहित्य का भी था। फील्डिंग, रिचर्डसन आदि के उपन्यासों का विस्तार सात-सात और आठ-आठ भागों (Valumes) तक चला गया है। पर उन्नीसवीं शताब्दी में इन उपन्यासों का इतना अधिक बाहुल्य हो गया कि लोगों को उन्हें पढ़ने का अवकाश तक न मिलने लगा। सभी लोग थोड़े समय में, थोड़े से परिश्रम से, कथा-साहित्य का अधिक-से-अधिक आनन्द प्राप्त करने की ओर प्रवृत्त होते गये। इसी कारण से गत शताब्दी में लघुकथा की उत्पत्ति हुई।

इन कहानियों और उपन्यासों में एक प्रकार की समानता रहती है। साधारणतया दोनों में कोई-न-कोई कथानक होता है; पात्र होते हैं, उनके चरित्रों का चित्रण होता है, कथोपकथन के प्रसंग आते हैं। दोनों के मूल में लेखक के कुछ-न-कुछ उपदेश रहते हैं। किन्तु वहाँ प्रश्न उठता है कि क्या लघुकथा उपन्यास का छोटा रूप है?

ऐसा नहीं है। उपन्यास और छोटी कहानी में सबसे बड़ा अन्तर यह है कि उपन्यास का क्षेत्र विस्तार में है, छोटी कहानी सीमाबद्ध होती है। उपन्यास की परिधि में समस्त जीवन है। कहानी की परिधि उसका एक अंश। उसका क्षेत्र बहुत संकुचित रहता है।

किन्तु दोनों में सबसे बड़ा अन्तर इस बात का है कि जहाँ उपन्यास में अनेक समवेदना (Sensations) के लिये अवकाश है वहाँ कहानी में एक ही समवेदना के लिये स्थान है।

मोपासां की कहानियों की तरह बड़ी-से-बड़ी कहानी हो सकती है और शरद्बाबू की 'मझली दीदी' और 'बड़ी दीदी' की तरह छोटा-से-छोटा उपन्यास भी हो सकता है। दोनों का मिश्रण 'उसने कहा था' कहानी में है। यदि एकही समवेदना लानी है, एक ही प्रभाव (effect) डालना है तो वह कहानी के क्लाइमेक्स से परिलक्षित हो जाता है। पर यदि छोटी-छोटी संवेदनाओं का विस्तार करना हो, तो उसके लिये उपन्यास ही एक व्यापक क्षेत्र हो सकता है। कह सकते हैं कि यदि उपन्यास स्याही का छिड़काव है तो कहानी एक पेंसिल की पतली लकीर।

ह्यू वाकर ने कहा है—"जो कुछ मनुष्य करे वही कहानी है।"

इस प्रकार कहानी के अन्तर्गत सब कुछ आ जाता है। कहानी का कथानक विश्व के स्रष्टा से लेकर परमकीटाणु तक से सम्बन्ध रख सकता है।

एडगर एलेन पो ने कहानी की परिभाषा इस प्रकार दी है:—

'कहानी एक प्रकार का वर्णनात्मक गद्य है जिसके पढ़ने में आध घंटे से लेकर एक घंटे तक का समय लगता है। अर्थात् एक बैठक में जो समग्र रूप से पढ़ी जा सके, वही कहानी है।'

संक्षेप से छोटी कहानी जीवन के किसी एक अङ्ग किंवा अवस्था का चित्रण है जिसके द्वारा एक ही प्रभाव या एकही संवेदना की उत्पत्ति होती है। जो अन्तर गीतकाव्य और महाकाव्य में है वही कहानी और उपन्यास में।

इसी बात को और भी अधिक स्पष्ट करते हुए पोकाक (Pocock) नामक एक पाश्चात्य विद्वान ने कहा है:—

"Every single part of the story must be relevant and to the point. There must be no padding out, no word spinning. Every epithet every phrase, every sentence should bear in some way upon the plot, character or atmosphere, so that when we come to the end we feel sure that we could not have skipped a line without missing something essential."

अर्थात "कहानी का हर एक भाग प्रसंगानुकूल और उचित होना चाहिये। न तो उसमें भावदुरूहता हो, न शब्दजाल! प्रत्येक शब्द, शब्द-समूह या वाक्य का सम्बन्ध वस्तु, चरित्र या वातावरण से होना आवश्यक है। जब हम कहानी पढ़ चुके, तो हमें ऐसा प्रतीत हो कि यदि हम एक भी पक्ति छोड़ गये होते तो कहानी के कुछ आवश्यक तत्व लुप्त हो जाते।"

इस परिभाषा से यह स्पष्ट है कि थोड़े से शब्दों में अधिक से अधिक प्रभाव. डालना ही कहानी का उद्देश्य है।

अब यह स्पष्ट हो गया कि छोटी कहानी के लिये किन-किन वस्तुओं की आवश्यकता होती है। सब से महत्वपूर्ण बात इस सम्बन्ध में यह कही जा सकती है कि छोटी कहानी के लिये यह आवश्यक है कि वह छोटी हो। कुछ लोगों ने तीन सौ शब्दों से तीन हज़ार शब्दों तक इसकी सीमा भी निर्धारित कर दी है। इस सम्बन्ध में एक-दृष्टान्त लीजिये—

कई वर्ष पूर्व सब से छोटी कहानी के लिये एक पारितोषिक रक्खा गया था। जिसे वह प्राप्त हुआ था, उसकी कहानी इस प्रकार थी—

"मुझे भूतों में विश्वाश नहीं है"—एक भद्रपुरुष ने रेलवे कम्पार्टमेंट के एक साथ के यात्री से कहा।—"क्या ऐसी बात है?" दूसरे ने उत्तर दिया और वह गायब हो गया।

किन्तु यह एक प्रतियोगिता की कहानी है। अतएव इसका यह अर्थ नहीं है कि लोग इसका अनुकरण करें। पर इससे एक बात तो स्पष्ट हो

जाती है कि इस कहानी के थोड़े से शब्दों से जो प्रभाव पड़ता है वह कई पृष्ठों के वर्णन से भी संभव न था।

दूसरी आवश्यक बात यह है कि छोटी कहानी में एक ही भावना का उद्रेक होना चाहिये। यदि कहानी करुण रस की है तो तमाम कथा को करुण रस से पूर्ण होना चाहिये। यदि उसमें एक ही भावना का उद्रेक न होगा तो एक ही संवेदना की निष्पत्ति भी न हो सकेगी।

तीसरी बात यह है कि जितनी आवश्यकता कहानी लिखने में स्मृति की है उतनी ही और कहीं तो उससे अधिक भी—विस्मृति की भी है। अनुभवों को जितना याद रखना ज़रूरी है उतना ही उन्हें भूलना भी। क्योंकि कहानी-कला की विशेषता संक्षेप में है, विस्तार में नहीं।

चौथी आवश्यकता बाह्य वस्तुओं (external) से सम्बन्ध रखती है, जिन्हें हम वस्तु, पात्र और वातावरण कह सकते हैं।

रचना की दृष्टि से कहानी के सारे अंग बिल्कुल उपन्यास के से रहते हैं। स्थूल रूप से वे इस प्रकार हैं:—

१ कथानक या वृत्त २. पात्र ३. चरित्र चित्रण ४. कथोपकथन ५. शैली ६. उद्देश्य और ७ वातावरण।

कथानक या वृत्त कहानी की रचना का सबसे अधिक आवश्यक अङ्ग है। बिना किसी वृत्त के साधारणतया कहानी हो नहीं सकती।

कथानक चार प्रकार का होता है।

(क) घटनाप्रधान— जिसमें घटनाओं की प्रधानता हो। प्रायः जासूसी कहानिया इस श्रेणी में आती हैं।

(ख) चरित्रप्रधान—जिसमें चरित्र-चित्रण पर ही विशेष ध्यान दिया जाता है। प्रेमचन्द्र, कौशिक और सुदर्शन की कहानियाँ इस श्रेणी में आती हैं।

(ग) भावप्रधान—जिसमें घटना और चरित्र का कोई विशेष महत्व नहीं होता। किसी एक विशेष भावना को लेकर कहानी अग्रसर होती है और वही उसका उद्देश्य भी रहता है। 'प्रसाद' की बौद्ध-धर्म सम्बन्धी और

प्रेमचन्दजी की देशभक्ति-पूर्ण कहानियाँ इस श्रेणी में आती हैं।

(घ) वर्णनात्मक—इसमें वर्णन की ही विचित्रता रहती है, उसी का सौन्दर्य्य उसमें विशेष लक्षित रहता है। 'हृदयेश' की कहानियाँ प्रायः इसी श्रेणी की हैं।

पात्रों के चुनाव के लिये कोई नियम नहीं है। पात्र पौराणिक, राजनैतिक, ऐतिहासिक तथा काल्पनिक चाहे जैसे हों, कहानी में उनका सप्राण हो जाना आवश्यक है। कहानी के बाहर उनका कोई अस्तित्व नहीं होता। चरित्र-चित्रण के लिए यह आवश्यक है कि कम-से-कम शब्दों में किसी पात्र का चरित्र चित्रित किया जाय। इसके लिए कहानीकार प्रायः दो प्रणालियों का प्रयोग करते हैं।

एक में वह स्वयं इतिहासकार के रूप में उसका चरित्र अंकित करता है, दूसरे में पात्रों के कथोपकथन के द्वारा चरित्र पर प्रकाश डालता है। आधुनिक लघुकथा के लिए दूसरी प्रणाली श्रेयस्कर है।

कथोपकथन कहानी का एक महत्वपूर्ण अंग है। कहानीकार कथोपकथन के द्वारा यदि पात्रों का चरित्र चित्र की भाँति अंकित कर दे, तो बस उसका उद्देश्य पूरा हो जाता है।

शैली या प्रणाली की चारुता भी कहानी का एक सर्वमान्य अंग है। शैली ही कलाकार के व्यक्तित्व को प्रदर्शित करती है।[1] पर कहानी के लिए ऐसा कोई नियम नहीं है कि वह अमुक शैली में ही लिखी जाय। फिर भी कहानी की मुख्यतया निम्न शैलियाँ मानी जाती हैं।

१. ऐतिहासिक प्रणाली—सारी कहानी इसमें अन्यपुरुष के रूप में कही जाती है। वर्णनात्मक कहानियाँ इस क्षेत्र में आती हैं। प्रेमचन्द की 'आत्माराम' तथा 'शतरंज के खिलाड़ी' आदि कहानियाँ इसी श्रेणी में आयेंगी।

---

[1] Style is the man.

२. आत्म-चरित्र-प्रणाली—इसमें सारी कहानी प्रथम पुरुष में लिखी जाती है। 'उग्र' जी की 'उसकी माँ' इसी प्रकार की कहानी है।

३. कथोपकथन-प्रणाली—इसमें सारी कहानी को नाटक के समान वार्तालाप द्वारा व्यक्त करना पड़ता है। कौशिकजी की कहानियों में इस प्रणाली का अधिक उपयोग पाया जाता है।

४. पत्र-प्रणाली—इसमें कथा ठीक रीति से अग्रसर नहीं हो पाती। समस्त कहानी पत्ररूप में लिखी जाती है।

५. डायरी-प्रणाली—इसमें कहानियाँ संस्मरण के रूप में लिखी जाती हैं। भावना का उद्रेक इसमें अधिक होता है।

६. वातावरण—इसका महत्व भूतों की कहानियों में विशेष रूप से पाया जाता है। जोसेफ़ कानरेड और सर आर्थर कानन डायल ने इस प्रकार की कई कहानियाँ लिखी हैं। परन्तु कहानी में वातावरण का सदा द्वितीय स्थान माना जाता है।

परन्तु कहानी चाहे जिस शैली की हो, कहानीकार का कुछ-न-कुछ उद्देश्य उसमें अवश्य निहित रहता है। कला को केवल कला के लिये माननेवाले भी कहानी को निरुद्देश्य नहीं लिख सकते। जिस भावनाका प्रदर्शन वे करना चाहते हैं वही उनका उद्देश्य हो जाता है।

रचना की दृष्टि से कहानी के स्पष्टीकरण में कलापक्ष का अन्तर्भाव हो जाता है। पर कहानी का एक दूसरा पक्ष भी है और वह है उसकी उपयोगिता। इस दृष्टि से कहानीकार का उद्देश्य कवीन्द्र रवीन्द्र के शब्दों में —"केवल कहानी लिखना ही नहीं वरन् किसी किसी विषय के मूलतत्व को पाठकों तक पहुँचाना भी है।" कहानी तो उसके लिए एक मनोरञ्जक साधन मात्र है। कहानीकार किसी भी विषय को ले लेता है और उसी को समझाता चलता है। कहानी की उपयोगिता भी इसी बात में है कि उसके द्वारा विषय को समझने में हमें पूरी सहायता मिलती है। यही कारण है कि आज कहानी केवल मनोरञ्जन का साधन न रह कर अपनी एक उपयोगिता भी रखने लगी है। यहाँ तक कि शास्त्रीय विषयों और विवादों का स्पष्टी-

करण भी, दृष्टान्त के रूप में, कहानी द्वारा किया जाता है। विश्व-साहित्य में आज ऐसी कथाओं की कमी नहीं है, जो शास्त्रीय प्रसंगों और निष्कर्षों के उदाहरण रूप में भी उपस्थित की जा सकती है। यहाँ तक कि कहानी का विषयगत वर्गीकरण सीमाबद्ध नहीं रह गया है और निम्नलिखित विषयों पर कहानियाँ लिखी जाती हैं—

सामाजिक, गार्हस्थ्य जीवन सम्बन्धी अथवा पारवारिक, ऐतिहासिक, वैज्ञानिक, भौगोलिक, अर्थशास्त्र-सम्बन्धी, साहसिक, धार्मिक, राजनैतिक, सनसनीदार तथा युद्ध-सम्बन्धी इत्यादि।

प्राय: छोटी कहानी में निम्नलिखित दोष पाये जाते हैं—

अ. असम्बद्धता

ब. अमौलिकता

स. प्लाट की हीनता

द. दुरारंभ

कहानी एक गठी हुई वस्तु है। उसके हरएक अंग बिलकुल एक सूत्र में बँधे होने चाहिये। जब कहानी का उद्देश्य एक ही प्रभाव डालता है, तब यदि उसके विभिन्न भाग एक सूत्र में बँधे हों, तो उसमें बल कहाँ रह जायगा?

प्रत्येक कहानी का मौलिक होना आवश्यक है। वह मौलिकता विषय कथानक या पात्र की ही नहीं वरन् प्रतिपादन की भी होनी चाहिये। प्लाट बिल्कुल चुस्त होना चाहिये। ज़रा भी ढीला या शिथिल हुआ तो वह उपन्यास की ओर ढुलक जायगा।

साधारण पाठक प्रायः शिकायत किया करते हैं कि श्रेष्ठ कहानियों का आरम्भ प्रायः खटकनेवाला हुआ करता है। कुछ लेखकों का यह भी मत है कि कहानी का सब से सुन्दर आरम्भ वार्तालाप के द्वारा होता है।

सफल कहानी-लेखक के लिए आवश्यक है कि वह सबसे पहले इस बात को समझे कि वह कहानी लिख रहा है। उसके द्वारा वह एक प्रभाव

डालना चाहता है, उसे एक ही समवेदना को व्यक्त करना तथा जीवन के एक ही भाग को सामने रखना है। इस बात को ध्यान में रखकर उसे ऐसा शीर्षक चुनना चाहिए कि उसका प्रभाव एकदम पाठक पर पड़ जाय। कहानी में भूमिका या निरर्थक प्रसङ्गों के लिए कोई स्थान नहीं है। आरम्भ और अन्त पर उसे विशेष रूप से ध्यान देना चाहिए। अन्त का प्रभाव पाठक पर विशेष पड़ता है। कथोपकथन के लिए आवश्यक है कि वह स्वाभाविक हो। अस्तु। कहानीकार की सफलता इस बात में है कि उसका प्रत्येक शब्द अपने स्थान पर इतना दृढ़ हो, वह इतना महत्त्व रखता हो कि किसी प्रकार वहाँ से हटाया न जा सके।

हिन्दी में कहानी का आरम्भ गोकुलनाथजी की "चौरासी वैष्णवों की वार्ता" तथा "दो सौ वैष्णवों की वार्ता" के साथ हुआ था। इसके बाद बहुत सी कथाएँ लिखी गयीं। लल्लूलालजी का 'प्रेमसागर', जटमल का 'गोराबादल', इंशा अल्ला ख़ां की 'रानी केतकी की कहानी' तथा सदल मिश्र का "नासिकेतोपाख्यान" आदि कथाएँ हिन्दी कहानी के इतिहास में 'अथ' मानी जाती हैं। फिर भी मौलिक रूप में सफलतापूर्वक छोटी कहानी लिखनेवालों में प्रेमचन्दजी अग्रणी हैं।

प्रेमचन्दजी की कहानियाँ सामाजिक हैं। व्यक्ति का विकास अथवा समाज-सुधार का उद्देश्य उनकी अधिकांश कहानियों में मिलता है किन्तु यह तत्त्व उनमें प्रायः प्राणरूप में छिपा रहता है। यों उन्होंने अनेक प्रकार की कहानियाँ लिखी हैं; पर उन सब का उद्देश्य समाज के सामने एक आदर्श चित्र और आदर्श चरित्र रखना है। इस वर्ग के प्रमुख लेखक पं० विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक, श्री सुदर्शन तथा ज्वालादत्त शर्मा हैं।

हिन्दी कहानी के निर्माताओं में 'प्रसाद' जी अपना एक विशेष महत्त्व रखते हैं। कालक्रम के हिसाब से तो उनका नाम सब से पहले आता है। उनकी भाषा संस्कृत-गर्भित है। उनकी वर्णन-शैली में कवित्व की मात्रा प्रचुर परिमाण में पाई जाती है। कथोपकथन भी उनका अर्थ-

गाम्भीर्य से युक्त होता है। परन्तु कलाकार की जीवन पर जो एक व्यापक दृष्टि होती है—जिसके कारण वह उसका चित्रकार मात्र न रहकर आलोचक हो जाता है, 'प्रसाद' जी की कहानियों में जीवन और जगत के साथ उसका सामञ्जस्य अपेक्षाकृत कम है। उनके वर्णनों में चपलता और चटकीलापन अधिक है, पात्रों के चित्रांकणों में सजीवता भी यथेष्ट है, किन्तु उनका कथाकार तत्व-निरूपण में निस्संग नहीं है। और कहीं कहीं तो वह अपने ही गढ़े हुए पात्रों के प्रति अप्रतिम आकर्षण से मोहाच्छन्न भी हो गया है।

"आकाशद्वीप" 'प्रसाद' जी की एक प्रसिद्ध कहानी है। उसकी कथा इस प्रकार है—.

गंगा के तट पर चम्पा-नगरी है। उसमें चम्पा नाम की एक क्षत्रिय बालिका रहती है। उसके पिता वणिक मणिभद्र के यहाँ प्रहरी हैं। माता का देहान्त हो जाने पर बालिका चम्पा अपने पिता के साथ ही नाव पर रहती है। वे कालान्तर में समुद्री डाकुओं से स्वामी की रक्षा करने में जल-समाधि को प्राप्त होते हैं। इन्हीं समुद्री डाकुओं में एक है बुद्धगुप्त। वह बन्दी है। वणिक मणिगुप्त असहाय चम्पा के रूप-यौवन से आकृष्ट होकर उससे प्रणय का प्रस्ताव करता है, किन्तु उत्तर में उसे चम्पा से अपमान मिलता है। और इसका फल यह होता है कि चम्पा भी बन्दिनी बना दी जाती है। इस प्रकार समुद्र की अतल जलराशि पर जलयान से संलग्न भिन्न-भिन्न दो नावों में दो बन्दी पड़े हैं। घोर अँधेरी रात है। शीत-ऋतु। तिस पर आँधी आ रही है। समुद्र गर्जन कर रहा है। हिलोरें उठती-गिरती हैं। वायु के वेग और लहरों के धक्कों से बन्दियों के बन्धन शिथिल होते हैं इसी क्षण संयोग से चम्पा बुद्धगुप्त को सोने से जगाती है। वह निद्रामग्न है, बन्धन-मुक्त होने का सुअवसर जान वह उठकर पहले स्वयं बन्धन-मुक्त होता और फिर चम्पा को स्वतन्त्र करता है।

किन्तु जिस नाव पर ये दोनों बन्दी जा रहे हैं, प्रातःकाल होने पर उसका नायक जब बुद्धगुप्त को बन्धनमुक्त देखकर विस्मित होता है, तो वह

पूछता है—तुम्हें स्वतन्त्र किसने किया ? बुद्धगुप्त का उत्तर मिलता है—इस कृपाण ने और अब दोनों में युद्ध होता है। फलतः नायक को ही बुद्धगुप्त का शरणार्थी होना पड़ता है।

नौका बहते-बहते बाली दीप के निकट एक ऐसे नवीन दीप के किनारे जा लगता है जहाँ सिंहल वणिकों की प्रधानता है। निश्चित नाम के अभाव में बुद्धगुप्त चम्पा के नाम से इस दीप का नाम भी चम्पा रखता है। धीरे-धीरे पाँच वर्ष व्यतीत होते हैं। अब बुद्धगुप्त एक जल-दस्यु न रहकर बाली, सुमात्रा तथा जावा का प्रमुख वाणिज्याधिकारी बन जाता है। चम्पा भी एक साधारण क्षत्रियबाला न रहकर चम्पा रानी कहलाती है। दोनों एक दूसरे से निर्मल प्रेम-बन्धन में आबद्ध हैं। किन्तु यह सब होते हुए भी दोनों परस्पर दाम्पत्य जीवन से दूर हैं। बात यह है कि चम्पा बुद्धगुप्त को चाहती चाहे जितना हो, किन्तु है तो वह उसके पिता का घातक ही, वह यह बात भूल कैसे सकती है। इतना ही नहीं, वह प्रतिशोध के लिये अपनी कंचुकी में एक कृपाण भी छिपा कर रखती है। एक ओर उसके हृदय में पितृ-घातक के प्रति घोर घृणा है, दूसरी ओर उसके शौर्य, प्रेम-व्यवहार और प्रणय-निवेदन के प्रति मोह की भी सीमा नहीं है। अन्तर्द्वन्द्व में जीवन चल रहा है। कभी संस्कारगत पितृ-स्मृति का भाव हृदय और शरीर के धर्म पर विजयी होता है और कभी जीवन की प्रत्यक्ष आवश्यकतायें प्रकृति नारीत्व और उसके अभावों की ज्वलन उसके जीवन-संकल्प को उच्छिन्न कर डालती हैं। अन्त में बुद्धगुप्त तो अपनी धनराशि और सामुद्रिक नौकाओं को लेकर अपनी जन्मभूमि भारत को वापस आ जाता है। किन्तु चम्पा वहीं, अपने उन्हीं अर्ध-सभ्य भोले-दीप निवासियों के दुख-सुख के बीच, उन्हीं की सेवा और समवेदना में, अपने को खपा डालती है।

रह गया आकाशदीप। सो यह उसके बाल-जीवन की एक स्मृति है। जब उसके पिता नौकरी पर समुद्र-यात्रा करने जाया करते थे, तब उसकी माँ मिट्टी का एक दीपक जलाकर, उसे बाँस की पिटारी में रखकर, गंगा के कूल पर, ऊँचे बाँस के सिरे पर लटका देती थी। वे सोचती थीं, इस

प्रकार उनके स्वामी की नौका के पथभ्रष्ट नाविक को गहन अन्धकार में भी निर्दिष्ट पथ-ग्रहण में सहायता मिलेगी।

इसी आधार पर एक ओर चम्पा उस दीप में समुद्र के किनारे एक आकाश-दीप नित्य जलाती है। वह सोचती है, इसी जल में उसके पिता ने कहीं-न-कहीं समाधि ली है। वह उस समाधि को खोज निकालने की भी कल्पना कर लेती है। और दूसरी ओर उसका जीवन है और जल रहा है—जैसे आकाशदीप।

'प्रसाद' जी की शैली कवित्वपूर्ण है। उनके कथोपकथनों में नाटककार का ओज और दर्प साकार हो उठता है। और भावोद्रेक का तो चरम प्रौढ़ रूप उनके संवादों में मिलता है। यथा—

"बुद्धगुप्त ने चम्पा के पैर पकड़ लिये। उच्छ्वसित शब्दों में वह कहने लगा—चम्पा! हम लोग जन्म-भूमि भारतवर्ष से कितनी दूर इन निरीह प्राणियों में इन्द्र और शची के समान पूजित हैं। पर न जाने कौन अभिशाप हम लोगों को अलग किये है। स्मरण होता है वह दार्शनिकों का देश! वह महिमा की प्रतिमा! मुझे वह स्मृति नित्य आकर्षित करती है। परन्तु मैं क्यों नहीं जाता, जानती हो? इतना महत्व प्राप्त करने पर भी कङ्गाल हूँ। मेरा पत्थर का हृदय एक दिन सहसा तुम्हारे स्पर्श से चन्द्रकान्त-मणि की तरह द्रवित हुआ। चम्पा! मैं ईश्वर को नहीं मानता—मैं पाप को नहीं मानता—मैं दया को नहीं समझ सकता—मैं उस लोक में विश्वास नहीं करता। पर मुझे अपने हृदय के दुर्बल अंश पर श्रद्धा हो चली है। तुम न जाने कैसे एक बहती हुई तारिका के समान मेरे शून्य में उदित हो गई हो!...चलोगी चम्पा! पोतवाहिनी पर असंख्य धनराशि लादकर राजरानी सी जन्म-भूमि के अङ्क में? आज हमारा परिणय हो, कल ही हम लोग भारत के लिए प्रस्थान करें। महानाविक बुद्धगुप्त की आज्ञा सिन्धु की लहरें मानती हैं। वे स्वयं उस पोतपुञ्ज को दक्षिण पवन के समान भारत में पहुंचा देंगी। आह चम्पा! चलो।

इस पर चम्पा बुद्धगुप्त के हाथ पकड़ लेती है; परन्तु फिर सहसा चैतन्य होकर उत्तर देती है—

"बुद्धगुप्त ! मेरे लिए सब भूमि मिट्टी है, सब जल तरल है, सब पवन शीतल है। कोई विशेष आकांक्षा हृदय में अग्नि के समान प्रज्वलित नहीं। सब मिला कर मेरे लिए एक शून्य है। प्रिय नाविक, तुम स्वदेश लौट जाओ, विभवों का सुख भोगने के लिए—और मुझे छोड़ दो इन निरीह भोले-भाले प्राणियों के दुःख की सहानुभूति और सेवा के लिए !"

उपर्युक्त उद्धरण में दोनों चरित्रों के कथोपकथन भावुकता से उत्तरङ्ग हैं। हृदय का आवेग इनमें पूर्ण परिष्कृत रूप में प्रकट हुआ है। परन्तु यह कहानी जिस उद्देश्य को लेकर चलती है, उसका अन्तिम प्रभाव इसमें अन्त के पूर्व ही उपस्थित कर दिया गया है। इसका यह परिणाम हुआ है कि उस प्रभाव की तीव्रता कथा के थोड़ा और आगे बढ़ जाने से शिथिल सी हो गई है। वास्तव में यह कथा निम्न कथोपकथन के साथ समाप्त हो जाती है।

—"तब मैं अवश्य चला जाऊँगा चम्पा ! यहाँ रहकर मैं अपने हृदय पर अधिकार रख सकूँगा, इसमें सन्देह है। आह ! इन लहरों में मेरा विनाश हो जाय !"—महानाविक के उच्छ्वास में विकलता थी। फिर उसने पूछा—"तुम अकेली यहाँ क्या करोगी ?"

—"पहले विचार था कि कभी-कभी इसी दीप-स्तम्भ पर से आलोक जलाकर अपने पिता की समाधि का इस जल में अन्वेषण करूँगी। किन्तु देखती हूँ, मुझे भी इसी में जलना होगा, जैसे आकाशदीप।"

'प्रसाद' जी की अभिव्यञ्जनना यथार्थवादी है किन्तु उद्देश्य निरूपण में वे आदर्शवादी हैं और अन्ततोगत्वा हिन्दी कथाकारों के आदिकालीन आदर्शवादी वर्ग के ही नेता सिद्ध होते हैं।

इस आदिकालीन वर्ग के एक स्तम्भ श्रीचतुरसेन शास्त्री भी हैं। उनका कथा-साहित्य दो भागों में बाँटा जा सकता है। एक में वे पूर्ण रूप से आदर्शवादी हैं। युवक-समाज के चरित्र-निर्माण का उद्देश्य सामने रख-

कर उन्होंने दर्जनों की संख्या में अतीव सुन्दर कहानियाँ लिखी हैं। ऐतिहासिक घटनाओं अथवा तत्सम्बन्धी सम्भावनाओं के आधार पर लिखी हुई उनकी अनेक कहानियों में वीर भावों की अच्छी सृष्टि हुई है।

पर शास्त्रीजी के कथाकार का दूसरा रूप यथार्थवादी है। मनुष्य की जीवनगत पिपासा का अतीव जाग्रत रूप उनकी इस ढङ्ग की कथाओं में मिलता है। निराश, विदग्ध और असफल प्राणियों के अन्तर्लोक का दर्शन अपनी ऐसी कहानियों में उन्होंने सुन्दर रूप में उपस्थित किया है।

"ख़ूनी" शास्त्रीजी की एक चिरप्रसिद्ध कहानी है। उसका सारांश इस प्रकार है—

दो व्यक्ति हैं, जो दिल्ली की एक गुप्तसभा के एक सदस्य हैं। वे अपने उद्देश्य के अनुसार पृथक् पृथक् कार्य करते हैं। कोई किसी से परिचित नहीं है। एक दिन उस सभा की बैठक होती है। उसमें एक व्यक्ति का जो इस कथा को संस्मरण के रूप में लिखता है, दूसरे व्यक्ति की ओर इसलिये ध्यान आकृष्ट होता है कि वह पास ही खड़े एक कुत्ते के साथ किलोल करता हुआ दृष्टिगत होता है। इसी समय गुप्तसभा के द्वारा उसको आदेश मिलता है कि इस तरुण का पूर्ण रूप से परिचय प्राप्त कर लो; क्योंकि आगे तुम्हें इससे काम पड़ेगा। अतएव वह आगे बढ़कर वह उस कुत्ते की ओर देखता हुआ युवक से कहता है—कैसा प्यारा जानवर है! युवक उत्तर देता है—काश मैं इसका सगा भाई होता! इसी तरह दोनों का परिचय बढ़ता है और वे दोनों परस्पर मित्रता के बन्धन में बँध जाते हैं।

युवक एक ज़मीदार का एकलौता पुत्र है। अतएव पहला व्यक्ति उसके घर भी जाता है। उसकी माता उसे अपने पुत्र के समान मानती है। दोनों के आत्मीय सम्बन्ध और अधिक घनिष्ट होते हैं। यहाँ तक कि निष्कपट निर्मल प्रेम और विनोद भाव से वह युवक अपने इस मित्र से एक दिन यहाँ तक कह डालता है कि अगर दैवगति से हम में से एक स्त्री हो जाय, तो मैं तो तुमसे ब्याह ही कर गुज़रूँ।

कालान्तर में पहले व्यक्ति को उसके दलपति का आदेश मिलता है कि

तुम्हें उसकी हत्या करनी पड़ेगी। दल के नियम इतने दृढ़ हैं और उनका पालन इतनी कठोरता के साथ करने का विधान है कि आदेश-पालन से इनकार की सज़ा मौत है इसके सिवा पहले व्यक्ति की स्थिति उस दल के अन्तर्गत एक परीक्षार्थी की है। गीता की शपथ लेकर नियमानुसार उसे नायक का आदेश स्वीकार करने के लिये विवश होना पड़ता है और फलतः उसे एक छःनली पिस्तौल दे दी जाती है। तदनन्तर वह उस युवक के घर जाता है। प्रेम से फिर दोनों गले मिलते हैं। चौथे दिन वे पैदल घूमते हुए जंगल की ओर जाते हैं पहला व्यक्ति हृदय में एक आग छिपाये हुए है। जिसके साथ उसकी अत्यधिक आत्मीयता है, अब उसी की उसे हत्या करनी है। क्षण-क्षण पर अनेक प्रकार के संकल्प-विकल्प उसके मन में आते हैं। तो भी आत्मीयता के आतंक से वह बचता हुआ चलता है। कोई ऐसी बात नहीं कहता, न ऐसा भाव ही अपनी ओर से प्रदर्शित करता है, जिसमें भावुकता में आकर वह अपने संकल्प से डिग जाय। अन्त में दोनों एक विटप की छाया में बैठते हैं युवक जेब से दो अमरूद निकालकर अपने इस मित्र के सामने उपस्थित करते हुए कहता है—अपने ही बाग़ के है। अभी पकने पर नहीं आये। आज दो ही निकले हैं।' दोनों एक-एक अमरूद खाने लगते हैं। पहला व्यक्ति झटपट अपना अमरूद खा डालता है; पर दूसरा अभी आधा ही खा पाया है। इसी समय उद्देश्य की गुरुता से सजग होकर पहला व्यक्ति उठकर पिस्तौल तान कर खड़ा हो जाता और कहता है—अमरूद फेंक दो। भगवान का स्मरण करो, मैं तुम्हें मारने को उद्यत हूँ।' सावधान करते हुए भी जैसे उसका धैर्य छूटने को है। वह सोचता है, कहीं मैं अपने व्रत से विचलित न हो जाऊँ। पर युवक की मनस्थिति में कोई परिवर्तन नहीं है! अपनी स्वाभाविक सरलता से वह उत्तर देता है—अच्छा अमरूद तो खा लेने दो। परन्तु पहले व्यक्ति का धैर्य छूट रहा है। वह कहता है—अच्छा, अमरूद खा लो। उत्तर में युवक अमरूद खाकर सामने सीना तानकर निर्विकार दृढ़ता से कहता है—अच्छा, मारो गोली।

इस पर पहला व्यक्ति अस्थिर हो उठता है। कहता है—मज़ाक मत

समझो, मैं सचमुच गोली मार रहा हूँ।

उत्तर मिलता है—मारो।

उसके मुख पर वही स्वाभाविक सरलता है, वही विकार-हीन-उपालम्भहीन—दृढ़ता। यकायक 'बैङ्ग-बैङ्ग' के चरम भयानक स्वर उस बन की प्रशान्त नीरवता को भंग कर देते हैं। दो गोलियाँ उस युवक की छाती के उस पार हो जाती हैं।

इस घटना के बाद फिर उस गुप्त सभा के सम्मुख पहला व्यक्ति उपस्थित होता है। दलपति कार्यसिद्धि के पुरस्कार में तेरहवें प्रधान का पद देकर उसे सम्मानित करना चाहते हैं। परन्तु उस पदाधिकार को प्राप्त करते ही वह प्रश्न करता है—मुझे उस युवक का अपराध बतलाया जाय। दलपति बतलाते हैं—वह हमारे आतङ्कवादी उद्देश्यों में से हत्यासम्बन्धी हिंसक वृत्ति से मतभेद रखता था। और ऐसा व्यक्ति कभी भी सरकारी मुख़बिर हो सकता है।

इस कथन के साथ ही उससे कहा जाता है कि इस कार्य-सिद्धि के पुरस्कार में तुम कोई एक माँग पेश कर सकते हो।

इस पर वह रो उठता है। कहता है—मुझे मेरा व्रत लौटा दो, क्योंकि मैं भी उसी मत का हूँ। मैं ऐसी हिंसकवृत्ति का साथ नहीं दे सकता। आग लगा दो अपनी इस तेरहवीं प्रधान की कुरसी में।

तदनन्तर दलपति अत्यन्त गम्भीरता-पूर्वक दृढ़स्वर में अपनी व्यवस्था देते हुए कहते हैं—तुम्हारे इस कथन का दंड तो प्राणान्त है। किन्तु विधान के अनुसार मैं तुम्हें क्षमा करता हूँ।

बस, तब से वह व्यक्ति इधर-उधर भागा-भागा फिर रहा है। न अब उसके जीवन में कोई उत्साह रह गया है, न कोई कामना। जीवन का सारा रस ही जैसे सूख गया है। उस युवक का एक पत्र ही उसका जीवनाधार है। उसकी गिरफ़्तारी का वारंट भी निकला था। वह जानता है कि मेरा वास्तविक अपराध मृत्यु-दण्ड है। पर उसकी स्थिति कुछ ऐसी विचित्र है कि मरने में भी उसे कोई आकर्षण नहीं रह गया। बस, एक लालसा रह

गई है। और वह यह कि जितने दिन भी उसका जीवन चले, उसकी स्मृति मानस-पटल पर सदा मूर्तिमान बनी रहे।

शास्त्री जी ने इस कथा को भावप्रधान शैली में लिखा है। एक व्यक्ति अपने कर्तव्य का पालन करते हुए भी दूसरे व्यक्ति के प्रति कहाँ तक मानवी समवेदना रख सकता है, यह कथा इसका एक समुज्ज्वल उदाहरण है। कर्तव्य और प्रेम का अन्तर्द्वन्द, न्याय-निष्ठा और मानवता की भावात्मक अभिव्यक्ति इसकी सब से बड़ी विशेषता है। हत्या के बाद इस मित्र की क्या स्थिति होती है, इसका वर्णन शास्त्रीजी ने इसमें कितने मर्मस्पर्शी ढङ्ग से किया है।—

"मैं भागा नहीं। भय से इधर-उधर मैंने देखा भी नहीं। रोया भी नहीं। मैंने उसे गोद में उठाया। मुँह की धूल पोंछी। रक्त साफ़ किया। आँखों में इतनी देर में कुछ-का-कुछ हो गया था। देर तक लिये बैठा रहा। जैसे माँ सोते बच्चे को—जागने के भय से—लिये निश्चिंत बैठी रहती है!"

सर्व श्रीचन्द्रधर शर्मा गुलेरी, चण्डीप्रसाद 'हृदयेश', शिवपूजन सहाय, रायकृष्णदास, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', सियारामशरण गुप्त, 'गिरीश'जी तथा मोहनलाल महतो 'वियोगी' आदि लेखकों ने भी समय-समय पर सुन्दर कहानियाँ लिखी हैं, तो भी कथाकार के रूप में उनकी गणना प्रायः कम होती है। गुलेरीजी की 'उसने कहा था' कहानी सुन्दर बन पड़ी है। 'हृदयेशजी' की कहानियों में कथा के यथेष्ट तत्व विकसित नहीं हो पाये। वे मुख्य रूप से अपनी अलंकृत भाषा के लिए प्रसिद्ध हैं। अन्य महानुभावों ने भी यद्यपि कतिपय उत्कृष्ट कहानियाँ लिखी हैं, किन्तु कथा-क्षेत्र की अपेक्षा अन्य क्षेत्र में उनकी प्रतिभा का अच्छा विकास हुआ है। शिवपूजन जी निबन्धकार उच्चकोटि के हैं। संस्मरण तथा रेखाचित्र लेखन में वे अग्रणी रहे हैं। रायसाहब गद्यकाव्यकार उच्चश्रेणी के हैं। अतएव उनकी कहानियाँ विशेष रूप से कल्पनाबहुल एवं भावात्मक हैं। सर्वश्री निराला, सियाराम-शरण गुप्त, 'गिरीश' तथा 'वियोगी' जी मुख्यतया कवि हैं। कहानी-लेखक

लो उनका एक रचनात्मक-प्रयोग-सा प्रतीत होता है। प्रायः इन महानु-भावों की कथाएँ आत्म-निरूपण से पूर्ण हैं। निरालाजी की विशेषता है व्यङ्ग्य तथा सामञ्जस्यपूर्ण विभिन्नता का चमत्कार-दर्शन। सियाराम-शरण जी की कहानियों में भावुकता का आधिक्य है। इसी भाँति 'वियोगी' जी की कहानियों में कथावस्तु का संतुलन प्रायः शिथिल-सा रहता है। संस्मरण-लेखन में उन्हें अच्छी सफलता मिली है।

प्रेमचन्द और उनके समकालीन आदर्शवादी लेखक-वर्ग से पृथक् चलकर जिन कथाकारों ने हिन्दी कहानी को गति दी है, उनको हम दो विभागों में विभक्त कर सकते हैं। इनमें प्रथम वर्ग का कार्यकाल—ऐसा जान पड़ता है—कहानी लेखन की दृष्टि से समाप्त हो चला है। इनमें प्रमुख हैं, सर्व श्री बेचन शर्म्मा 'उग्र' राजेश्वरप्रसादसिंह, ऋषभचरण जैन, इलाचन्द्र जोशी, जैनेन्द्रकुमार, कृष्णानन्द गुप्त, भगवती चरण वर्मा, 'अज्ञेय', चन्द्रगुप्त विद्यालङ्कार तथा वाचस्पति पाठक। 'उग्र जी की कथाओं में एक ताजगी है। जीवन की उत्तरङ्ग स्थितियों को वे एक तटस्थ तथा निर्द्वन्द्व पथिक दृष्टि से देखते हैं। पर उनका कलाकार जीवन का द्रष्टा अधिक है, आलोचक कम। उनकी भाषा बड़ी मादक है, उपमाएँ नयी और शैली अपनी है, एक अल्हड़पन से ओत-प्रोत। उदाहरणवत्।

"उसी लड़के ने एक दिन, जब मैं उन्हें हलवा परस रही थी, मेरे मुँह की ओर देखकर कहा—माँ! तू तो ठीक भारतमाता है। तू बूढ़ी, वह बूढ़ी। उसका हिमालय उजला है, तेरे केश। हाँ, मैं नक़शे से साबित करता हूँ, तू भारतमाता है। सर तेरा हिमालय, माथे की दोनों गहरी, बड़ी रेखाएँ गंगा और यमुना। यह नाक विन्ध्याचल, दाढ़ी कन्याकुमारी तथा छोटी-छोटी झुरियाँ रेखाएँ भिन्न-भिन्न पहाड़ और नदियाँ हैं ज़रा पास आ मेरे। तेरे केशों को पीछे से आगे—बाएँ कन्धे पर—लहरा दूँ। वह बरमा बन जायगा। बिना उसके भारतमाता का शृङ्गार शुद्ध न होगा।

जानकी उस लड़के की बातें सोच गद्‌गद् हो उठी—"बाबू ऐसा ढीठ लड़का। सारे बच्चे हँसते रहे। और उसने मुझे पकड़, मेरे बालों को बाईं-

कर अपना बर्मा तैयार कर लिया। कहने लगा—देख, तेरा यह दाहिना कान कच्छ की खाड़ी है बम्बई के आगेवाले और यह बायाँ बङ्गाल की खाड़ी। माँ! तू सीधा मुँह करके ज़रा खड़ी हो। मैं तेरी ठुड्ढी के नीचे, उसमें दो अंगुल के फ़ासिले पर, हाथ जोड़कर घुटनों पर बैठता हूँ। डाढ़ी तेरी कन्याकुमारी—हा हा हा हा—और मेरे जुड़े ज़रा तिरछे हाथ सिलोन—लंका!—हा हा हा हा! बोल, भारतमाता की जय!"

राजेश्वर बाबू की अधिकांश कहानियाँ रोमाँसवाद की सीमा से उभर नहीं सकीं। भगवती बाबू की विशेषता है तीखा व्यंग्य। ऋषभचरण जैन पर क्षेत्रगत प्रभाव 'उग्र' जी का है। जोशी जी रोमांसवाद के कुशल कलाकार हैं। कृष्णानन्द गुप्त 'कला-कला के लिए' सिद्धान्त के अधिक निकट हैं। 'अज्ञेय' जी ने मनोविश्लेषण-सम्बन्धी कई उत्कृष्ट कहानियाँ लिखी हैं। टेकनीक, शैली और वातावरण की दृष्टि से उन्होंने हिन्दी-कथा-साहित्य की एक दिशा को गौरव दिया है, यद्यपि कहीं-कहीं अपने ही उत्पन्न किये चरित्रों में वे आत्म-निरूपण करते प्रतीत होते हैं। चन्द्रगुप्त जी की कथाएँ भ्रमण-जन्य सस्ते रोमांस से अधिक संलग्न हैं। पाठकजी की कथाओं में वातावरण अधिक, कथातत्व कम और भाव-सौन्दर्य खूब है।

प्रेमचन्द्र जी के बाद हिन्दी कहानी को नयी दिशा देने में जैनेन्द्रजी की प्रतिभा का सबसे बड़ा दान निहित है। हमारे आज के जीवन को उन्होंने अधिक व्यापक परिदृष्टि में अंकित किया है। उनकी शैली, भाषा और टेक-नीक में पूर्वा का प्रभाव नहीं है। मनोविश्लेषण में वे अन्य समकालीन लेखकों की भाँति अन्तर्मुखी भी नहीं हैं। यद्यपि उनकी मान्यताएँ गांधीवाद से अधिक प्रभावित हैं। कथा के आदर्श-निरूपण में वे विवेक और तर्क से प्रायः दूर भी चले जाते हैं, परन्तु अनेक दृष्टियों से उनकी कुछ कहानियाँ तो अतीव उत्कृष्ट हैं।

दूसरे वर्ग में कुछ तो वे लेखक आते हैं जो प्रेमचन्द जी के कार्य-काल में ही यथेष्ट विकसित हो चुके थे, शेष इधर की नयी पौध वाले हैं। इनमें सर्व श्री यशपाल, उपेन्द्रनाथ 'अश्क' ब्रजमोहन गुप्त, लक्ष्मी-

चन्द्र, 'अञ्चल' तथा चन्द्रकिरण सौनरिक्सा प्रमुख है। हिन्दी-कहानी प्रेमचन्द्र-युग में जिस रिते-घिसे किन्तु प्रशस्त पथ से जा रही थी, आज की स्थिति उससे भिन्न है। आज हिन्दी का कलाकार अपना पथ स्थिर करने में न उतना प्रवहमान है, न निश्चिन्त। प्रेमचन्दजी जैसे किसी सर्वमान्य उच्च व्यक्तित्व की छत्रछाया भी उसे प्राप्त नहीं है। आज तो उसे अपनी ही सीमाओं में घिरे रह कर जीवन के साथ संघर्ष करना पड़ता है। समाज में चारों ओर जो एक वैषम्य छाया हुआ है, आजका कथाकार उसके प्रति अपेक्षाकृति अधिक सजग है। जैसे-जैसे जीवन की मान्यताएं बदल रही हैं, वैसे-वैसे कथाकार अपने को भी बदलता जा रहा है। आज हिन्दी कथाओं में रोमांसवाद का प्रभाव घटना प्रारम्भ हो गया है और यथार्थवाद तथा प्रगतिवाद की ओर कथाकार की दृष्टि अधिक उन्मुख है। जो कथाकार आज निर्माण के पथ पर हैं, उनके प्रति हिन्दी साहित्य एक आशापूर्ण दृष्टि से देख रहा है।

× × ×

यहाँ इतना स्पष्ट कर देना आवश्यक हो गया है कि इस संग्रह का जैसा नाम है 'हिन्दी की प्रतिनिधि कहानियाँ' उसके अनुरूप कुछ कहानियाँ इसमें सम्मिलित हो नहीं पायी हैं। बात यह हुई कि एक तो हमारे मान्य कथाकारों में से अनेक महानुभाव अपनी कहानी प्रकाशित करने का अधिकार कुछ ऐसी शर्तों पर देने को तैयार हुए, जो हमारे लिए वर्तमान परिस्थिति में मान्य नहीं हो सकती थीं। दूसरे, सभी लेखकों का कथाएँ इस पुस्तक की सीमा में आ भी नहीं सकती थीं। इसीलिए हमारी कठिनाइयाँ बढ़ गईं। आशा है, पाठक इन विवशताओं को समक्ष रखकर इस पुस्तक का अवलोकन करेंगे।

—सम्पादक

श्री अमृतलाल नागर

आजकल आप बम्बई में रहते और फिल्मों के लिये सीनेरियो लिखते हैं।

नागर जी का जन्म वि० संवत् १९७० में हुआ। आपने लगभग सात आठ वर्षों से हिन्दी में लिखना आरंभ किया है। आप हास्यविनोद के बड़े अच्छे लेखक हैं। 'नवाबी मसनद' आपकी उपन्यास के रूप में हास्यरस की एक सुन्दर पुस्तक है। आपकी भाषा मनोरंजक और मुहावरेदार होती है। हिन्दी मे हास्यरस का साहित्य बहुत ही थोड़ा है। जो कुछ है भी वह बहुत उच्च कोटि का नहीं है। किन्तु नागर जी ने इस क्षेत्र में अपनी प्रतिभा का सुन्दर परिचय दिया है।

प्याले में तूफ़ान

ऐन आधी रात के वक्त क़ादिरमियाँ को मालूम हुआ कि ख़ुदावन्द करीम ख़्वाब में कह रहे हैं—"अमाँ क़ादिर, तुम दुनियाँ के भोले-भाले बाशिन्दों को मेरा यह इलहाम सुना दो कि कल जुमेरात के दिन शाम की नमाज़ के बाद मैं आऊँगा, और उसी वक्त तमाम लोगों से मिल कर क़यामत का दिन मुक़र्रर करूँगा।" देखते ही-देखते मालूम हुआ कि अल्लाह मियाँ की बड़ी लम्बी सफ़ेद दाढ़ी ख़्वाब को बटोर कर ले गई; और मियाँ क़ादिर की आँख जो पट से खुली तो देखते क्या हैं कि आसमान में एक बड़ा चमकदार तारा टूट रहा था। मियाँ क़ादिर ने चारपाई पर पड़े ही पड़े कलमा पढ़ा।

पिछली शाम घर में दुपट्टा रँगने के लिये पीला रंग मँगाया गया था। ख़्याल आते ही मियाँ क़ादिर ने झट से उठकर उसे खोला और अपना कुर्ता और लुंगी रँग डाला। बाक़ी रात ख़ुदा की इबादत में बिताई और सबेरे तड़के ही मियाँ क़ादिर पीला कुर्ता और लुंगी पहन कर घर से निकल पड़े।

पाटे नाले के मोड़ पर मियाँ हादी एक हाथ में चिलम लिए बड़बड़ाते हुए आते दिखाई पड़े। वह नानबाई को बात-बात में कमीना साला कहते हुए चले आ रहे थे। वजह सिर्फ़ इतनी ही थी कि मियाँ नानबाई की दुकान पर जब आप तशरीफ़ ले गये तो उस वक्त वह भट्ठी में दियासलाई दिखा रहा था। उन्होंने चिलम बढ़ाकर आग मांगी। उसने उनकी 'लिक्विडेशन' में आई हुई आँख को शान में चन्द चुने हुये अलफ़ाज़ कह दिये। इस वक्त जो मियाँ नानबाई के प्रति अपने प्रेम की उमड़ती हुई दरिया में नालायक़, कमीना, उल्लू का पट्ठा इत्यादि नामो के बड़े-बड़े जहाज़ तैरा रहे थे, यह सब मियाँ नानबाई की ही बातों के तुफ़ैल से था। मगर जो सामने से मियाँ क़ादिर को इस भेस में आते हुए देखा तो बस एक दम बुत बने खड़े रह गए।

"अमाँ क़ादिर ! अमाँ हैं ! अमाँ किधर चले ?" हादी मियाँ क़ादिर को सिर से पैर तक तीन बार देख गए।

"लाहौलबिलाक़ूवत !" मियाँ क़ादिर ने निहायत नफ़रत के साथ ज़मीन पर थूक कर कहा—"अबे तुझे इसी वक्त टोकना था कम्बख़्त ?"

"वल्लाह ये मज़ा देखिये। अमाँ तुम तो बिना बात के बिगड़ जाते हो। भाई, बात क्या है ? अमाँ इस नाराज़ी...।"

कहाँ तो मियाँ क़ादिर अल्लाह मियाँ का फ़रमान सुनाने जा रहे थे, और कहाँ कम्बख़्त काना मिल गया और वह भी अलस्सुबह, घर से निकलते ही। झुँझलाकर कहा—"ले बस, अब रास्ता छोड़, मनहूस कहीं का। सूबू ही सुबू टोक दिया लेके।"

बस अब हद हो चुकी थी। मियाँ हादी की शान में ऐसे-ऐसे बेहूदा अलफ़ाज़ कह दिए जाँय और मियाँ हादी ज़हर के कड़ुवे घूँट की तरह उसे चुप-चाप पी जाँय, यह ज़रा नामुमकिन सी बात है। मगर उस वक्त अगर यह 'नामुमकिन' भी मियाँ क़ादिर के फ़क़ीराना भेष को देखकर 'मुमकिन' हो गया तो कोई ताज्जुब की बात न थी। आप बराबर यह जानने के लिये इसरार कराते ही रहे कि आख़िर हज़रत घरबार छोड़कर इस तरह जा कहाँ रहे हैं।

इधर मियाँ क़ादिर का यह हाल था कि वह उन्हें एक चाँटा रसीद

करने जा ही रहे थे कि भाई बक़रीदी आते हुए दिखाई पड़े। उन्होंने मियाँ क़ादिर को जो इस भेस में देखा, तो बस देखते ही रह गए, और इसके बाद मियाँ हादी को इस तरह रास्ता रोककर खड़े देखा तो मामला कुछ-कुछ समझ में आया। चट से कह उठे—"अमाँ होगा भी। अब ये तो हुआ ही करता है। भाई, जिस घर मे दो बर्तन होते हैं, बजते ही हैं। मगर इसमे इतना नाराज़ होने की क्या बात है? अमाँ, ये तो घर-घर में लगा ही रहता है। ख़ैर, होगा भी। चलो हम चल के समझाये देते हैं। आइन्दा भौजी तुम्हें इस तरह......"

बक़रीदी मियाँ क़ादिर को घर की तरफ़ ढकेलने लगे। मियाँ क़ादिर को और भी ताव आ गया। बोले—"कह दिया कि रास्ता छोड़ दो। मगर तुम लोग मानते ही नहीं। ख़ामख़ाँ को ताव दिलाये चले जा रहे हो। फ़ज़ूल की बकवास लगा रक्खी है। यहाँ हमे पार-वाले साईं जी के तकिए तक जाना है।"

"न भाईजान! अमे हटाओ इस झगड़े को। घर-घर म यही होता है। अब कल ही था, मुझसे और तुम्हारी भौजी......"

"देखा! फिर वही? अमाँ वह बात नहीं, हज़ार बार कह दिया, लाख बार समझा दिया कि अल्लाह-ताला......"

बुद्धन, अच्छन, जुम्मन—इतनी देर में सभी जमा हो गए। अब भाई बक़रीदी समझा रहे थे—"अमाँ, तो अल्लाह की इबादत करने से तुम्हें कौन रोकता है, भाईजान? घर पर बैठकर क्या ये सब नहीं कर सकते? अब आप ही इन्हें समझाइए, मियाँ अच्छन साहब। देखिए भला, कोई बात भी हो तो। घर में कोई बात हो गई होगा..."

"देखिए-देखिए, ज़रा संभल कर ज़ुबान से बात निकालिएगा, मियाँ बक़रीदी। कह दिया कि कुछ भी..."

"तो आख़िर बात क्या है? अब ये जो तुम घर-बार छोड़कर फ़क़ीरी ले रहे हो, इसका कोई सबब भी होना चाहिये, भाई मेरे..." मियाँ अच्छन साहब ने क़ादिर की पीठ पर बड़ी गर्म-जोशी के साथ हाथ फेरते हुए कहा।

मियाँ क़ादिर सचमुच निहायत परीशान हो चुके थे। अच्छन साहब से

बड़ी नम्रता के साथ कहा—"वही तो मैं भी अरज़ करने जा रहा हूँ, बड़े मियाँ। मैंने कहा कि..."

मियाँ क़ादिर की बात शुरू भी न होने पाई थी कि मियाँ बुद्धन बोल उठे—"*अब तुम बताओगे क्या? वह तो सुनी-सुनाई बात है। आख़िर इतने* आदमी खड़े हैं, क़सम खा के भला कोई यह तो कह दे कि हमारे घर में कोई आज तक कभी भी लड़ाई हुई। अरे भाई, यह तो हुआ ही करता है, आप समझिए कि..."

आँखों में आँसू छलछला आए। मारे ताव के चेहरा सुर्ख़ हो गया। एक बार पूरे जोश के साथ अपने को छुड़ाकर मियाँ क़ादिर ने बुद्धन की ओर बढ़ते हुए कहा—"अपनी औक़ात समझ के मुँह से बात निकालना चाहिये, समझे बुद्धन, मारे जूतों के खोपड़ी गंजी कर दी होगी। बेईमान कहीं का, बड़ा सुक़रात की दुम बना है। चला वहाँ से बतानेवाला।"

मियाँ बुद्धन को ताव आ गया। मारे तेहे के आगे बढ़कर बोले—"ऐसी मुरव्वत की ऐसी-तैसी। अमाँ तुम्हीं देख लो भाई बक़रीदी, एक तो मैं समझा रहा हूँ और यह है कि......। इस हेकड़ी में न रहिएगा मियाँ, समझे? वाह अच्छा-ख़ासा स्वाँग बना रखा है। ज़री सा घर में झगड़ा क्या हो गया कि चले साहब फ़क़ीराना भेष धर तमाशा दिखाने! अमाँ ऐसी-ऐसी लन्तरानियां..."

ताव में आकर मियाँ क़ादिर ने लपककर बुद्धन की गर्दन में हाथ डाल और खोपड़ी पर एक कड़ाकेदार चपत मार उसे ढकेलते हुए कहा—"बड़ा आया है वहाँ से जज साहब का बच्चा बनकर, मियाँ बीबी का फैसला चुकाने। कह दिया फ़ज़ूल की बातें मत करो। मगर नहीं, ख़ामख़ा अपनी हेकड़ी दिखाते जाएँगे। बेईमान कहीं का।"

जब तक लोग आगे बढ़कर इन दोनों का बीच-बचाव करें तब तक मियाँ बुद्धन के दो तीन हाथ करारे-करारे पड़ ही गए! वल्लाह, उस वक्त मियाँ बुद्धन का वह जोश वह वुलबले और वह तेहेबाज़ी देखते ही बनती थी। जी में तो बहुत आया कि लपककर मियाँ क़ादिर से बदला लें, कई बार गालियाँ देते हुए तेज़ी में आ लाल-पीली आँखों के साथ आगे बढ़े भी, मगर मियाँ क़ादिर

के फँड़े को देखकर ज़रा सहम जाते थे, दूसरे बीच-बचाव करने वाले भी बहुत से थे। अब लोगों में चेंमें-गोइयाँ यह होने लगीं कि इस वक्त क़ादिर मियाँ जोश में हैं, अगर फ़क़ीर होकर चल दिए तो चार बाहर वाले आकर यही थूकेंगे कि मुहल्लेवालों ने रोका तक नहीं।

भाई बक़रीदी ने मियाँ अच्छन साहब से कहा—"देखिए बड़े मियाँ बड़ा ग़जब हो जायगा जो क़ादिर चल दिया। क़सम ख़ुदा की, वल्लाह मैं सच कहता हूँ बड़े मियाँ, कि पूरे मुहल्ले भर के मुँह पर अपने हिसाब जैसे कालिख पुत जायगी और भाई, सच तो यह है कि आज इसके ऊपर, तो कल ख़ुदा न करे हमारे ही ऊपर बीते। और यह तो सब के घर में लगा ही रहता है। मर्द आदमी किसी बात पर ताव आ गया, घर छोड़कर चले जा रहे हैं, साहब।"

बहरहाल बड़े मियाँ, जुम्मन और बक़रीदी ने मिल कर यह तय किया कि क़ादिर को, चाहे कुछ भी हो, घर लौटाकर ले जाया जायगा। बस फिर क्या था, एक हाथ जुम्मन ने पकड़ा, एक हाथ बक़रीदी ने, कोई पीछे से घेर रहा है, कोई बग़ल से रोक-थाम कर रहा है, और क़ादिर मियाँ हैं कि तमाम उछल-कूद मचा रहे हैं। इस ले-दे के बीच में इनकी सुनता ही कौन है। किसी तरह उन्हे लोग घर की तरफ़ ले ही चले।

× × ×

इधर यह हाल कि पास-पड़ोस की तो क्या कहिए, आस-पास के तीन चार मुहल्लों तक की औरतें मियाँ क़ादिर के घर पर जमा हो गई थीं।

सबसे पहले फ़ातिमा को ही इस बात की ख़बर मिली थी, जब कि मियाँ क़ादिर हादी से उलझ रहे थे। बीबी फ़ातिमा ने झप से अपना दुपट्टा सँभालते हुए ऊपर छत से अपनी पड़ोसिन ख़ैरातिन को पुकार कर कहा—"ऐ बहन, तुम्हें एक बात बतावें।"

ख़ैरातिन ने रकाबी धोते हुए तुनककर जवाब दिया—"ऐ चल हटो, तुम्हें न तो कुछ काम न धन्धा। बस ले के सुबू-सुबू बातें बनाने बैठ गईं। ऐसा भी क्या मुआ निठल्लापना!"

"ऐ नौज़ बीबी' तुम तो हवा से लड़ती हो। मुझे क्या ग़रज़ पड़ी थी जो तुम्हें कोई बात सुनाने आती। वाह रे दिमाग़! ज़मीन पर पैर ही नहीं पड़ते बीबी के। मदुआ ज़री लाटसाहब की अर्दली में क्या हो गया कि अपने को लाटसाहब की बच्ची समझने लगी।"

"देख ख़बरदार, जो अब की मरद-पीर तक पहुँची तो तेरा मुँह ही झुलस दूंगी, हाँ! चुड़ैल की नानी कहीं की!"

वाक़या है कि अगर अख़्तरी उस वक़्त वहाँ न पहुँच जाती तो मुहल्ले में एक अच्छा ख़ासा हंगामा मच जाता। एक तरफ़ तो लोग मियाँ क़ादिर को मनाने जाते और दूसरी तरफ़ औरतें आपस में तू तू मैं-मैं कर आसमान को सर पर उठा लेतीं। मगर ख़ैर—मौक़े पर अख़्तरी के पहुँच जाने की वजह से तमाशे की सूरत कुछ और हो गई। क़िस्सा यों हुआ कि अख़्तरी जब ख़ैरातिन के यहाँ आग लेने आई तो उसने हाँफते हुए, मियाँ क़ादिर के फ़क़ीर हो जाने का हाल बतलाया। ख़ैरातिन फ़ातिमा से लड़ना बन्द कर, एकाएक, अख़्तरी से मियाँ क़ादिर की बाबत बातें करने लगीं।

बीबी फ़ातिमा ने झमककर कहा—"ऐ बहन, वही तो मैं भी इन्हें सुनाने आई थी। लेकिन यह है कि सुबू-सुबू कोसा-काटी करने लगीं। ऐ हाँ, ज़री इनके मिजाज़ तो देखो। ओफ़्फ़ोह, हवा से लड़ाई लड़ती हैं ये तो।"

ख़ैरातिन ने झपाके के साथ दुपट्टा सिर से उतारते हुए, जोश में आ, फ़ातिमा की तरफ़ हाथ बढ़ा-बढ़ाकर कहना शुरू किया—"ऐ तुम तो बड़ी नन्हीं-बाली! ज़री ईमान से बताओ तो कि मैं किस दिन किसके साथ लड़ी? मैं तुम्हें बताए देती हूँ, बहन, किसी पर झूठी तोहमत लगाना अच्छा नहीं होता।"

अख़्तरी ने बात बदलते हुए कहा—"ये क्या तुम लोग सुबू-सुबू क़सीदा काढ़ने बैठ गईं? फ़ातिमा बहन; अब तुम कोई नन्हीं सी नहीं रहीं जो ये सब अच्छा लगे। इस बुढ़ापे में तो ज़रा अपनी लल्लो को काबू में रक्खो।"

बीबी फ़ातिमा रो-रोकर कुछ कहने ही जा रही थीं कि बाहर के हंगामे ने तीनों का ध्यान अपनी तरफ़ खींच लिया। मियाँ क़ादिर उस वक्त मियाँ बुद्धन को सबक़ दे रहे थे। क़िस्सा-कोतः यह है कि इसी तरह धीरे-धीरे बन्द

ही मिनट में मुहल्ले की तमाम औरतें इकट्ठा होकर मियाँ क़ादिर के मकान पर मिसकौट करने पहुँच गयी थीं। क़ादिर की बीबी उस वक्त इत्मीनान से चारपाई पर बैठी हुई जमुहाइयाँ और अँगड़ाइयाँ ले रही थीं। एकदम से जो मुहल्ले की तमाम औरतों ने मिलकर धावा बोला तो ये घबरा उठीं। उधर औरतों ने जो देखा कि बीबी न रोती हैं, न बेहोश हुईं और मज़े से चारपाई पर पड़ी हुई अँगड़ाइयाँ ले रही हैं, तो आपस में फुस-फुस करने लगीं।

एक ने कहा—"ऐ बहन, देखा ? जो ये ऐसी न होती तो मदुआ घर-बार छोड़ कर क्यों जाता ?"

दूसरी ने मुँह बिचकाकर उत्तर दिया—"उँह, ऐसी मुई औरत भी किस काम की, जो अपने मरद को यों तकलीफ़ दे। मुँह नोच ले ऐसी मुई का तो।"

बड़ी ख़ुरशीद ने आगे बढ़कर काँपती हुइ आवाज़ के साथ क़ादिर की बीबी से कहा—"ऐ बेटा, तुम्हें अपनी ज़ुबान ज़री क़ाबू में रखनी चाहिये। ऐसी भी क्या मुई लल्लो कि जो जी में आया निकाल दिया। और हम तो कहते हैं कि भाई, बड़ा ग़मख़ोर है हमारा क़ादिर। जो और कोई होता तो ज़ुबान खींच कर रख लेता। ऐ, अब तुम भी बच्ची नहीं हो, अल्ला के फ़ज़ल से बाल बच्चेवाली हो, समझदार हो, और क़ादिर हमारा कोई निठल्ला नहीं है। तुमको......।"

ख़ुरशीद की बात काट, नाक पर उँगली रखते हुए शाहज़ादी बोल उठी—"ऐ नौज़ बीबी, ऐ वो निठल्ला क्यों ? सैकड़ों लाखों से अच्छा कमाता है। और यह भी नहीं कि उसे कोई बुरी लत ही हो। मैं तुझसे सच कहती हूँ बहन, ऐसा समझदार लड़का हमारे मुहल्ले भर में क्या, शहर भर में कोई नहीं।"

फ़ातिमा ने आगे बढ़कर हाथ नचाते हुए कहा—"ऐ है, कोई लाख समझदार क्यों न हो, मगर यह रोज़ रोज़ की किच-किच हाय-हाय कोई कब तक सहे ? मरद आदमी, ताव में आकर फ़क़ीरी ले ली।"

मियाँ क़ादिर की बीबी इन तमाम बातों को सुनकर एकदम हक्का बक्का सी हो गई। उसे ख़ाक भी समझ में न आया कि माजरा क्या है। वह बेचारी खड़ी-खड़ी इन औरतों के मुँह की तरफ़ देख रही थी, और वे थीं कि सवाल

पर सवाल कर इसके छक्के छुड़ा रही थीं। इस लानत-मलामत से घबराकर आख़िरकार क़ादिर की बीबी सर पर हाथ रख रोने को बैठ गईं।

फ़ातिमा ने आगे बढ़कर हाथ हिलाते हुए कहा—"और जो पहले ही से इतनी समझ आ जाती तो काहे को ये सब भुगतना पड़ता? मगर नहीं, उस वक्त तो ज़ोम सवार था। उँह, आग लग जाय मुए ऐसे ज़ोम में। ऐसा भी क्या मुआ झगड़ा, जो आदमी को फ़क़ीर बना के ही छोड़ा।"

मियाँ क़ादिर की बीबी यह सब सुनते-सुनते तंग आ चुकी थी। रोकर बोली—"ऐ बहन, ज़रा मेरी भी तो सुन लो। मैं कहती हूँ, मैं अपने इतने बड़े लड़के की क़सम खाती हूँ......"

ख़ुरशीद ने आगे बढ़कर काँपती हुई पर तेज़ आवाज़ में कहा—"ऐ हं, ज़री देखो तो, मालिक को उधर साईं बना के भेजा, अब लड़के को खाये जाती है। वाहरी औरत! इतनी उमिर तो मेरी भी होने को आई, कोई सत्तर और छै बरस तो मुझे भी ज़माना देखते हो गए, मगर वाह, तुझे क्या कहूँ? अहा-हा बलिहारी है तेरी!"

फ़ातिमा ने शाहज़ादी को टहोका मारते हुए कहा—"ऐ बहन, तुम मेरी क्या उमर समझती हो? कोई साठ और पाँच बरस की उमर होगी मेरी भी। मगर नहीं, ऐसी मुई बदज़ात औरत मैंने भी अपनी उमर भर में नहीं देखी। हम तो कहेंगे कि भाई, हमें कोई सूली पर चढ़ाए, मगर अपने लड़के—अपने कलेजे के टुकड़े—की क़सम भई, हमसे तो कभी भी न खाई जाय।"

शाहज़ादी भी कुछ कहने ही वाली थी कि क़ादिर की बीबी एकाएक तड़पकर बोल उठी—"ऐ तुम लोग अपनी ही कहे जाओगी कि किसी की सुनोगी भी? मैं कहती हूँ कि चाहे मुझसे क़सम ले लो, जो मैंने किसी से कुछ भी कहा हो और जो मुझे कुछ भी मालूम हो तो मेरे तन-मन में कीड़े पड़ें।"

अख़्तरी ने बड़े लहज़े के साथ कहा—"ओहरी मेरी बन्नो, ऐसी बड़ी भोली तो हो ही।"

अख़्तरी और भी अभी न जाने क्या-क्या कहती, मगर उस वक्त तक लोग मियाँ क़ादिर को पकड़े हुए घर ले आए। शाहज़ादी ने जीभ को दाँतों

के नीचे दबाते हुए दयनीय मुद्रा बनाकर कहा—"ऐ है, ज़री हमारे क़ादिर की तरफ़ देखो तो। बिचारे का मुँह कैसा उतर गया।"

ख़ुरशीद बोली—"ऐ मैं कुरबान जाऊँ। इस मरी-पीटी चुड़ैल ने अल्लाह जाने कैसा-क्या कर दिया कि बेचारा एक रात में ही आधा रह गया।"

बहरहाल, यही हंगामा मचता रहा। इत्तफ़ाक़ से मियाँ शुबराती को एक काम से चौक की तरफ़ जाते वक्त अकबरी दरवाज़े के पास पीरू पहलवान दिखाई पड़े। शुबराती ने लपककर पहलवान के कन्धे पर हाथ रक्खा और बोले—"ये लीजिए तुम तो यहाँ मज़ा कर रहे हो, और वहाँ तुम्हारे दोस्त क़ादिर पर कैसी बीत रही है कि बस अल्लाह ही जानता है।"

पहलवान ने घबराकर पूछा—"क्यों-क्यों, ख़ैरियत तो है न?"

"सब ख़ैरियत ही है। वह बेचारा तो घरबार छोड़ फ़क़ीरी ले के चला जा रहा है, और आप ख़ैरियत की दुम पकड़कर चले हैं।"

"अमाँ, हैं? अमाँ तुम ये क्या कह रहे हो, शुबराती मियाँ? आख़िर यह बात क्या हुई?"

मियाँ शुबराती ने एक बार चारों तरफ़ सतर्कता के साथ देखा और फिर पीरू के नज़दीक आते हुए बोले—"क्या हुआ क्या, अमाँ भाई, सच-झूठ की तो अल्लाह ही जाने, मगर हमने सुना है कि उसकी जोरू के साथ लद्दन की निगाहें कुछ ख़राब-सी थीं। क़ादिर ने ये सब देख लिया, बस इसी से उसने फ़क़ीरी ले ली। और इतना तो भई, हम भी कहेंगे पहलवान, कि हज़ारों बार ख़ुद हम ने अपनी आँखों से देखा कि क़ादिर की बीबी और लद्दन हँस-हँस के बातें कर रहे हैं। मगर हम को क्या, हमने सोचा कि किसी के मामले में हम टाँग क्यों अड़ावें? अरे हाँ भई, जो जैसा करेगा वैसा ही पावेगा।"

पहलवान ने पूरी बात भी न सुनी, और लपककर क़ादिर के घर की तरफ़ चले। जाकर देखा तो चारों तरफ़ बड़ी भीड़ जमा है, और चबूतरे पर पीला कुर्ता और पीली लुंगी पहने मियाँ क़ादिर घुटनों में मुँह छिपाये बैठे हैं। घर के अन्दर अलग हंगामा मचा हुआ है। भीड़ चीरते चीरते पहलवान क़ादिर के पास तक आए और उसकी पीठ पर हाथ फेरकर बोले—"अमां क़ादिर!"

क़ादिर मियाँ उछल पड़े, और पहलवान को गले से लगाते हुए रोकर बोले—"सबेरे से हमें सब ने तंग कर रक्खा है। इनके हाथों से हमें नजात दिलाओ, भाईजान।"

पीरू पहलवान ने क़ादिर को सीने से लगाकर भरोये हुए गले के साथ पूछा—"आख़िर तुम्हें ये फ़क़ीरी लेने की क्या सूझी थी?"

क़ादिर ने रोकर कहा—"अमाँ वही तो बताते हैं। भाईजान, बात यों हुई······" बीच ही में टोककर मियाँ बक़रीदी ने आगे बढ़ते हुए कहा—"ये क्या बतावेंगे! मैं तुम्हें सब बताये देता हूँ।"

क़ादिर मियाँ चीख़ते हुए बोल उठे—"बस सबेरे से इसी तरह नाकों चना चबवा रहे हैं। पूरी बात सुनते नहीं और बीच में टाँग अड़ा देते हैं।"

पहलवान ने तेवर बदलते हुए कड़ककर कहा—"अब की जो बोला उसकी ज़ुबान पकड़कर खींच लूंगा। हमें कोई क़ादिर न समझ ले कि रो देंगे; मारे चाँटों के मुह रायता कर दिया जायगा। हां जी क़ादिर, तुम कहो।"

क़ादिर ने अपने आँसू पोंछकर सुबुकते हुए कहना शुरू किया—"अमाँ कल रात को हमने एक ख़्वाब देखा कि जैसे बड़ा चाँदना-सा फैल गया है और सामने ख़ुदावन्द-करीम खड़े हुए हमसे कह रहे हैं कि तुम लोगों को यह बतलाओ कि हम कल दुनिया के हाल-चाल देखने आवेंगे और सब का फ़ैसला करेंगे। सो भाई, वही सब कहने मैं आज सूबू पारवाले साहजी के तकिये पर जा रहा था कि इन लोगों ने मुझे रोक लिया था। सूबू पाँच बजे से, अब ये बारह-एक बजे का टेम हो गया, और अब तक इसी तरह रोक रक्खा है। अब शाम की नमाज़ के बाद अल्लाह-ताला तशरीफ़ लावेंगे और यहाँ ये हाल है कि दुनिया भर में किसी को ख़बर ही नहीं। मगर हम क्या करें? वह रहीमाने रहीम सब के दिल का हाल जानता है। अगर इन लोगों ने रोक न रक्खा होता, तो क्या मैं अब तक ये ख़बर न सुना देता?"

यह हाल अब जो कोई सुनता है, उसीके छक्के-बक्के छूट रहे हैं। आनन-फानन यह ख़बर पाटेनाले के कोने-कोने में पहुँच गई। सब लोग मियाँ क़ादिर की ज़ियारत के लिये आने लगे।

ख़ुदा की मरज़ी, एक घंटे के बाद एकाएक आसमान पर बादल घिर आए, बिजली चमकने लगी, घनघोर काली घटाओं से मूसलाधार बारिश शुरू हो गई। तब तक मियाँ क़ादिर के इस इलहाम की चर्चा तू-मैं की ज़बान पर होती-होती सारे शहर में फैल गई थी। और उस वक्त भाई बकरीदी के बतला देने की वजह से पूरा-का-पूरा पाटानाला कम्बख़्त हादी-काने को कोसता हुआ, तस्बीह के दानों को दनादन फेरता, हाथ और आँखें आसमान की ओर उठाकर रोते हुए कलमा पढ़ रहा था।

पंडित गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश'

जन्म—पौष शुक्ल ७, संवत् १९५५ वि०। निवास स्थान—मछली शहर, जौनपुर। आजकल आप इलाहाबाद में रहते हैं।

गिरीश जी हिन्दी के पुराने कवि, उपन्यासकार, समालोचक तथा कहानी-लेखक हैं। कथा में किसी विशिष्ट चरित्र की सृष्टि करने के लिये, जीवन के साधारण किन्तु अनिवार्य व्यापारों में अन्तर्प्रदेश की एक मर्मस्पर्शी झाँकी उपस्थित करना आपकी विशेषता है। आपने यद्यपि कहानियाँ कम लिखी हैं, किन्तु आपकी यह कहानी वास्तव में बड़ी महत्त्वपूर्ण है।

मुन्नू की चाची

(१)

संयोग की बात, राधा जिसका नाम खुलकर नहीं ले सकती थी, जिसे जीवन में फिर कभी देखने की उसको आशा ही नहीं रह गई थी, और जो उसके मन-प्राण में व्याप्त रहने पर भी शरीर से अलंघ्य दूरी पर स्थित था, उसीको आज उसने देख लिया। जिसके मुख की छवि को देखने के लिये उसकी आँखें छटपटाया करती थीं वही अब सामने था। आनन्द का इतना बड़ा झोंका अबला राधा कैसे सहन कर सकती थी? वह बैठ गई; उसे चक्कर सा आ गया; उसकी साँस रुक-सी-गई; बारम्बार उसे भ्रम हुआ कि कहीं यह स्वप्न तो नहीं है। अपने आसपास की चीजों को छूकर वह अपने मन को समझती थी कि जब दूसरी वस्तुओं के देखकर पहचानने में आँखें धोखा नहीं खा रही हैं तब उन्हीं को पहचानने में क्यों धोखा खायँगी?

राधा उठकर चटाई लाई और नौकरानी से न मँगाकर स्वयं सिलाई का सामान और कपड़े भी लाई। चिक की आड़ थी ही। वह अलक्षित रह

कर भी स्वयं अच्छी तरह देख सकती थी। जो थोड़ा बहुत अनौचित्य औरों की दृष्टि में हो सकता था उसे सिलाई के कपड़ों ने ढक लिया। परन्तु यदि नौकरानी दो मिनटों के लिये भी चली आती तो राधा की चोरी छिपी नहीं रह सकती थी।

थोड़ी ही देर में राधा ने देखा कि पाँच वर्षों का एक सुन्दर बालक आकर तोतली बोली में 'दादा' कहता हुआ द्वारकानाथ से लिपट गया। इस बालक का मुसकुराना ठीक उन्हीं का सा मन्द और मादक है। आँखें तो देखो, ठीक उन्हीं की ऐसी भावपूर्ण हैं! बाल कैसे पतले रेशम की तरह मुलायम हैं! आह! यह तो मानो उन्हीं का बाल-स्वरूप है! इस समय उसके हृदय में जो भाव उत्पन्न हुए उनके आवेग को वह न सम्हाल सकी। वह गिरकर बेहोश हो गई।

जब राधा को होश आया, तब उसने देखा कि न द्वारकानाथ वहाँ हैं और न उनका लड़का। उसने समझा कि वह सब स्वप्न था।

परन्तु, इसी स्वप्न को उसने संध्या-समय फिर देखा। इस बार कोठे के बार्जे पर नहीं, मकान की सब से ऊँची छत पर। इस बार तो उसने द्वारकानाथ की दृष्टि में अपने को आते-आते बचाया; क्योंकि सड़क के आमने-सामने स्थित दोनों मकानों की तिमञ्जिली छतें अभिन्न-हृदय मित्रों की तरह स्पष्ट हो गई थीं। द्वारकानाथ स्वयं भी बड़े सङ्कोचशील थे। राधा पर पूरी दृष्टि पड़ने के पहले ही वे वहाँ से हट गए। अब राधा तीसरी मञ्ज़िल को विश्वास-घातिनी सखी की तरह डरने लगी।

(२)

दूसरे दिन जब राधा के पति अपने दफ़्तर चले गए और जब द्वारकानाथ को भी उसने अपने काम पर जाते हुए देख लिया तब द्वारकानाथ की पत्नी के पास उसने नौकरानी के हाथ एक चिट्ठी भेज दी—

प्रिय बहन, अभी हम लोगों को इस मुहल्ले में आये तीन ही चार दिन हुए हैं। तबियत घबराती है। यदि आप अनुचित न समझें तो आपके पास बैठकर थोड़ा दिल बहला लिया करूँ। —कमला

उसके उत्तर में द्वारकानाथ की पत्नी ने लिखा—

प्रिय बहन, आपकी चिट्ठी से तो वही कहावत याद आती है कि नेकी करें और पूछ-पूछकर। आप मेरे यहाँ आने की कृपा करेंगी तो मैं भी आपके यहाँ चलूँगी। —प्रेमकली

थोड़ी देर में राधा नौकरानी के साथ आ गई। प्रेमकली ने राधा को अपना सारा घर दिखलाया। द्वारकानाथ की बैठक ख़ूब सजी रहा करती थी। उनकी अनुपस्थिति में उसमें हमेशा ताला लगा रहा करता था। उसे प्रेमकली ने अन्त में खोलकर दिखाया और इसलिये कि कमला पर पूरा रोब जम जाय, उसी में बैठी भी। द्वारकानाथ की पुस्तकें, कापियाँ, वस्त्र, जूते, सभी में उसे प्राण का अनुभव होता था। बिजली की बटन दबाने से जैसे शरीर भर में सनसनी-सी फैल जाती है वैसे ही द्वारकानाथ की एक-एक चीज़ उसके हृदय में विषाद-मिश्रित आनन्द का संचार करती थी। आनन्द इसलिये कि वह इतना आकस्मिक था और विषाद इसलिये कि उसकी प्रेम-घटना ने जैसी परिस्थिति उत्पन्न कर दी, उसे देखते हुए वह अधिक काल तक टिक नहीं सकता था।

इतने में मुन्नू जग पड़ा और आकर माँ की गोद में, मुसकराता हुआ बैठ गया। प्रेमकली ने कहा—"मुन्नू, चाची को नमस्कार करो।" मुन्नू झेंप गया। उसने मुँह दूसरी ओर फेर लिया। राधा ने सोचा बस, उन्हीं का सा शरमाना, उन्हीं का-सा सङ्कोच। इसकी सारी बातें उन्हीं की-सी हैं।

प्रेमकली ने कहा—"मुन्नू, इतना शरमाता क्यों है? जा चाची की गोद में।"

मुन्नू का सङ्कोच कुछ कम हो चला। उसने एक बार चाची की ओर तिरछी निगाह से देखकर मुसकरा दिया और मुँह दूसरी ओर फेर लिया। अब राधा से न रहा गया। उसने मुन्नू को गोद में लेने के लिये हाथ बढ़ाया। मुन्नू भी थोड़ा सा झेंपता, थोड़ा मुसकराता हुआ, चाची की गोद में चला ही गया। राधा ने मुन्नू के हाथ में एक सोने की अँगूठी पहना दी और मुस-कराते हुए मुन्नू के गालों को चूमकर कहा—"मुन्नू बेटा, मुझे तुम क्या कहोगे?"

मुन्नू ने उत्तर दिया—"चाची !"

राधा और प्रेमकली दोनों हँसने लगीं।

धीरे-धीरे मुन्नू अपनी नयी चाची में बहुत हिल गया। सबेरे से लेकर प्रायः दस बजे तक अधिकतर चाची ही उसे खिलाती, नहलाती और नये-नये खिलौने देकर बहलाये रहती। जब-तब द्वारकानाथ प्रेमकली पर चिढ़ते कि यह क्या बात है जो तुम मुन्नू को मेरे घर रहने के समय तक बाहर रखने लगी हो! प्रेमकली हँसकर कहती—"मैं क्या कहूँ, कितना समझती हूँ कि बेटा, थोड़ी देर रहकर चला आया कर; लेकिन वहाँ जाकर लौटता ही नहीं। क्या करूँ, खुल्लमखुल्ला मना भी तो नहीं कर सकती; बेचारी कमलादेवी का दिल टूट जायगा।"

मुन्नू से केवल द्वारकानाथ ही वंचित हो गए हों, सो बात नहीं; प्रेमकली भी वंचित थी। पति के दफ़्तर चले जाने के बाद राधा प्रेमकली के यहाँ चली आया करती थी और इतने सारे समय में भी मुन्नू जो-कुछ माँगता, सो चाची से। यहाँ भी चाची ही उसे दूध पिलाती, खाना खिलाती और धोती पह-नाती। चाची ही गाना गाकर सुनाती, तब मुन्नू को नींद आती। मुन्नू का यह हाल और कमला का यह प्यार देखकर प्रेमकली चकित थी।

इसी तरह कई महीने बीत गए। राधा छिपे-छिपे द्वारकानाथ का दर्शन कर लेती और मुन्नू की सेवा में अपने दिन बिताती। एक दिन द्वारकानाथ मन-ही-मन मुन्नू की चाची के प्रेम की आलोचना कर रहे थे और यह सोच रहे थे कि एक ओर इतनी प्रेममयी स्त्री, जो दूसरे के बच्चे को भी अपने बच्चे से अधिक प्यार करे, और दूसरी ओर उसका मनहूस खूसट पति, जो हरदम रोनी सूरत बनाये रहता है, किसी से बोलता नहीं, जैसे उसके सिवा संसार में और सब मुर्दे ही हैं। आज रविवार का दिन था। उन्होंने मेघदूत पढ़ने को उठाया, तो देखा कि उसमें एक पत्र रक्खा हुआ है। वह इस प्रकार था—

पूज्यवर ! प्रणाम। आज आठ-नौ वर्षों के बाद आपको यह पत्र लिख रही हूँ। हम लोगों का पत्र-व्यवहार जिस प्रकार बन्द हुआ, जिस प्रकार हम

लोग जीवन-पर्यन्त विरह में दग्ध होने के लिये छोड़ दिए गए, वह सब तो आप जानते ही हैं। मुझे जितनी वेदना है उसका आप अनुमान भी नहीं कर सकते। परन्तु ईश्वर को धन्यवाद देती हूँ कि उसने आपका दर्शन एक बार करा ही दिया। यह पत्र लिखने का कारण यह है कि अब मैं यह मकान छोड़कर दूसरे मुहल्ले में जा रही हूँ। बात यह है कि मेरे अनेक सम्बन्धी आपको जानते हैं। आपकी प्रसिद्धि ही इसका सब से बड़ा कारण है। दूसरे, मेरे सभी भाई आपसे चिरपरिचित हैं। उनमें से एक अभी हाल में यहाँ आए हैं। आपको देखकर उन्होंने सारा हाल पिता आदि से कह दिया है। मेरे और आपके घर का हेल-मेल जानकर पिताजी ने यहाँ पत्र लिखा है। ऐसी दशा में मैं यहाँ नहीं रहूँगी। मेरे कारण आपको भी व्यर्थ में कष्ट मिलने लगेगा। आपके वियोग को तो मैंने सहन भी कर लिया, किन्तु मुन्नू का *वियोग तो मेरे लिये सर्वथा असह्य होगा। परन्तु मैं क्या कर सकती हूँ!* अपने अभाग्य से कैसे छुटकारा पा सकती हूँ!

एक बार फिर सर्वदा के लिये प्रणाम करती हूँ; क्योंकि अब आपका दर्शन मिलने की मुझे आशा नहीं रही है।

आपकी वही, राधा

द्वारकानाथ चकित, स्तम्भित रह गए। सोचने लगे—इस व्यथा का, इस पीड़ा का, कोई ठिकाना है! रह-रहकर ईश्वर मेरे ऊपर प्रहार करता है। अधिक दिन बीत जाने से मुझे आराम न मिल जाय, शायद इसीलिये मेरा अदृष्ट नये-नये घाव कर देता है। और, राधा, तुमने भी मेरे साथ कैसी वञ्चना की! कमला का रूप धारण करने और इस प्रकार मुझे शेष जीवन के लिये दुख की एक और ठेस देने की क्या आवश्यकता थी? कम-से-कम मुझे एक बार दर्शन तो दिया होता। लेकिन अब तो समस्या उतनी मेरी नहीं है, जितनी मुन्नू की है। मुन्नू कैसे चाची के बिना रहेगा! उन्होने प्रेमकली से सारी बात बता दी।

(३)

चाची के चले जाने पर मुन्नू बहुत रोया। दो दिनों तक न उसने कुछ

खाया, न पिया। अन्त में बीमार पड़ गया। डाक्टर देखने आए तो बोले—"इसके हृदय को कोई आघात पहुँचा है।"

द्वारकानाथ ने कहा—"है तो बात यही, लेकिन अब आप इसे दवा के सहारे चंगा करिए; क्योंकि जिसके लिये यह रोता रहा है वह अब इसे मिलने की नहीं!"

डाक्टर ने उत्कण्ठित होकर पूछा—"आख़िर बात क्या है?" द्वारकानाथ ने सब बातें समझा दीं, तो डाक्टर साहब ने गरजकर कहा—"संसार में ऐसी कोई शक्ति नहीं है जो मुन्नू को उसकी चाची के पास जाने न रोक सके। एक नौकर मेरे साथ कीजिए। मैं स्वयं मुन्नू को लेकर जाता हूँ।"

डाक्टर साहब का ताँगा रास्ते में जा रहा था कि सामने से एक लाश आती हुई दिखाई पड़ी। नौकर के पूछने पर किसी ने उत्तर दिया—"बाबू दुर्गादत्त की स्त्री का देहान्त हो गया। न कोई बीमारी, न कोई बात। अचानक हृदय की गति बन्द हो गई।" नौकर ने भीड़ में बाबू दुर्गादत्त को भी पहचाना और फिर डाक्टर साहब से कहा—"हुज़ूर, ताँगा फिरवाइए। मुन्नू की चाची अब इस लोक में नहीं रही!"

श्री गोपालराम गहमरी

जन्म संवत १९१३ वि० । आप गहमर ज़िला ग़ाज़ीपुर के निवासी हैं, किन्तु रहते आजकल बनारस में हैं ।

आप हिन्दी के बहुत पुराने लेखकों में हैं । हिन्दी-कहानी के जासूसी-विभाग के आप एक-मात्र रत्न है । आपकी भाषा बहुत सरल होती है । आपने १०-१२ पुस्तकें लिखी हैं । एक युग था, जब आपके जासूसी उपन्यासों की हिन्दी में बड़ी धूम थी । एक अंग की पूर्ति की दृष्टि से देखा जाय, तो आपने वास्तव में हिन्दी-साहित्य की बड़ी सेवा की है । हिन्दी भाषा आपकी ऋणी रहेगी ।

मालगोदाम में चोरी

१

आज डुमराँव स्टेशन से राजप्रासाद तक बड़ी धूम है । ट्राफ़िक़ सुपरिंटेंडेंट के दफ़्तर से तार-पर-तार चल रहा है । दीनापुर से डुमराँव तक सिग्नेलरों का नाकोंदम है । एक ख़बर (मेसेज) फ़ारवर्ड होते देर नहीं कि दूसरी के लिये तारबाबू टेलीग्राफ़-इन्स्ट्रूमेण्ट पर रोल करते हैं । डी० टी० एस० के आफ़िस से एक को मंसूख करनेवाला, दूसरा फिर उसको कैंसल करनेवाला, तीसरा, इसी तरह लगातार आर्डरों का तार लग रहा है । होते-होते कोई बीस घण्टे के बाद ट्राफ़िक़ सुपरिंटेंडेंट के यहाँ से स्टेशन-मास्टर को तार आया कि मालगोदाम जैसे का तैसा बंद रखो, जासूस जाता है। बस अब सब लोग अपने मन की घबराहट मन ही में दबाये जासूस की राह देखने लगे ।

इधर नगर में कोलाहल मचा है । बिसेसर हलवाई अपनी दूकान पर बैठा पंखे से मगदल को मक्खी हाँकता हुआ कहने लगा—"दादा, इसी

टेसन में मिठाई बेचते बाल पके, लेकिन ऐसी चोरी किसी बड़े बाबू के बखत में नहीं हुई। ताला-चाभी सब बन्द-का-बन्द और भीतर से गाँठ गायब !"

मगदल ख़रीदनेवाला कहता है"—कहो बिसेसर ! जब चाभी बाबू के पास रही, तब दूसरा कौन चुरा सकता है ?"

हलवाई—चाभी रहती है तो क्या बाबू पहरा देते हैं ? अरे, जब गाड़ी आई, पसिंजर से पार्सल उतरा, तभी खलासी चाभी उनसे माँग लाता है और आप खोलकर पार्सल रखता और बन्द करके चाभी बाबू के हवाले करता है। खलासी अगर निकाल ले, तो बाबू लोग क्या करेंगे ?"

ग्राहक—"लेकिन भई, लोग कहते हैं मन भर से भी कम की गठरी थी, तब उसमें पाँच हज़ार के कपड़े कैसे बन्द थे !"

दूकान के सामने ही कड़ाही मलता हुआ मुसवा कहार आँख बदलकर और हाथ मटका कर कहता है—"अरे तुम भी घच्चू हो कि आदमी ! गाँठ में हमारे-तुम्हारे वास्ते खारुआँ मारकीन थोड़े रहा। महाराज के घर सादी है, कलकत्ता से रेशमी कपड़ा, साल दुसाला, लोई अलुयान उसमें चलान हुआ रहा कि खेल है। कितने ही हज़ार का तो उसमें रेसम भरा रहा।"

हलवाई—"अरे हज़ार-लाख पर कुछ अचरज नहीं न चोरी जाना अचरज है। बात यह कि बाहर ताला बन्द-का-बन्द और भीतर गाँठ नदारद है ! उस रोज़ बाबू कहते हैं रात की पसिजर से एक सन्दूक़ और गाँठ दो ही तो उतरा था। उस घर में और कोई माल नहीं था। लेकिन सवेरे देखा गया तो उसमें से कपड़े की गाँठ नदारद है और सन्दूक़ जैसी की तैसी जहाँ की तहाँ पड़ी है। जहाँ गाँठ थी वहाँ कुछ खर, कुछ ईंट और एक लम्बा पत्थर पड़ा मिला !"

इतने में एक दाई माथे पर जल भरा घड़ा लिये हलवाई की दूकान में आई और सिर से उतारते-उतारते बोली—"ऐ दादा, कवन सा पूलुसवाला बड़ा साहब आया है। सब सिपाही दरोगा उसके आगे हाथ जोड़ कर सलाम करने गए हैं। कुलदिपवा कहत रहा कि कलकत्ता से पुलुस का बड़ा साहब

आया है। यही सब का मालिक है। उधिर महल में मारे अमला फैला के खमखम हो रहा है।"

बिसे०—"अरे नहीं रे पगली! जासूस आने को रहा वही आया होगा। अभी मालगाड़ी गई है न, उसी में आया होगा। कल सबेरे ही उसके आने की ख़बर आई रही।"

ग्राहक—"जासूस कैसा?"

बिसे०—"जासूस लोग यही पुलिस वाले होते हैं। यहाँ की यह पुलीसजैसे वरदी पहनती है वह लोग वैसा नहीं पहनते। वह बिलकुल सीधे सादे रहते हैं। उनका चपरास भी कमर में होता है! कोई देख कर नहीं पहिचान सकता कि वह लोग पुलीसवाले हैं। देख रे सुखना ज़रा दूकान देख, तो मैं भी देख आऊँ।"

इतना कहता हुआ हलवाई अपने लड़के सुक्खन को दूकान सौंपकर स्टेशन को चला। वहाँ मालगोदाम के दरवाज़े पर लोगोंकी बड़ी भीड़ देखी। दो कानिस्टबिल बाहर के लोगों को अलग करने में लगे हैं। मालगोदाम का दरवाज़ा खुला है। स्टेशन-मास्टर चौकीदार और चार खलासियों के साथ भीतर एक बाबू को सब दिखा रहे हैं।

वह बाबू मालगाड़ी से अभी उतरा है। गाड़ी से उतरते ही मालगोदाम में जाकर देखा तो वहाँ एक ओर कुछ पयार पड़ा है, कुछ ईंट और एक पत्थर की पटिया पड़ी है।

मालगोदाम भीतर बहुत साफ़ है। अभी दो ही रोज़ हुए, उपर सफ़ेदी की गई है। कमर से ऊपर ऊँचाई तक चारों ओर की दीवारों में काला अलकतरा पोता गया है। अब वह सूख चला है। धरती पर खूब साफ़ है, लेकिन जहाँ पत्थर, ईंट और खर पड़ा है वहीं सफ़ाई नहीं है। बाबू ने कमरे को अच्छी तरह देखकर स्टेशनमास्टर से कहा—"अच्छा आप अपने आदमियों के साथ बाहर जाइए। मैं थोड़ी देर तक इस गोदाम का दरवाज़ा बन्द करके भीतर बैठूँगा।"

यही बाबू ट्राफिक सुपरिंटेंडेन्ट के भेजे हुए जासूस हैं। जैसा उन्होंने

कहा, स्टेशनमास्टर ने वैसा ही किया। सब खलासी और चौकीदारों के साथ वह बाहर हो गए। बाबू ने दरवाज़ा लगाकर भीतर देखना शुरू किया। मकान की एक-एक ईंट पर सनीचर की दीठ से देखने लगे!

देखते-देखते दीवार पर एक जगह नज़र पड़ी। जान पड़ा कि वहाँ का रङ्ग किसी ने पोंछ लिया है। बाबू ने पास जाकर देखा तो मालूम हुआ कि थोड़ी जगह का रंग किसी ने कपड़े से पोंछा है। उसके दहने-बायें भी पाँचों उँगलियों के दो जगह निशान मिले। बाबू ने अकचकाकर देखा। चेहरे का रंग बदल रहा था, थोड़ी देर बाद आप-ही-आप बोल उठे—"चोर शाला जल्दी में दीवार पर गिरा है। पीठ उसका रङ्ग में चफ़न गया है। उसको सँभालने के वास्ते उसने दोनों हाथ से दीवार का सहारा लिया है, इसीसे उँगलियों के साथ हथेली दीवार पर जोर से पड़ी है और दोनों हाथों का निशान बीच में कमर के दहने-बायें उखड़ आया है।" वहीं बड़ी देर तक खड़े खड़े बाबू साहब देखते रहे। ख़ूब अच्छी तरह देखने पर मालूम हुआ कि उसके बायें हाथ की सब से छोटी उँगली टूटी है या कट गई है। उसका निशान बहुत छोटा है। बाक़ी सब उँगलियों का निशान ठीक है।

बाबू ने जेब से एक पाकिटबुक निकालकर यह बात नोट कर ली। फिर उनकी नजर आगे-पीछे दहने बायें चलने लगी। दरवाज़े के सामने ही की दीवार में दूसरा दरवाज़ा है। स्टेशनमास्टर से मालूम हुआ कि वह सदा बन्द रहता है। इस वक़्त रोशनी आने के लिये बाबू ने उसी को खोल रखा है। उसी की रोशनी में बाबू यह सब देख रहे हैं। नोट करनेवाली पेंसिल एक हाथ में और नोटबुक दूसरे हाथ में अभी मौजूद है। बाबू की नज़र बन्द दरवाज़े पर पड़ी, तो एकदम चेहरा ख़ुश हो गया। किवाड़ के पास जाकर देखा तो एक पर दो जगह पाँच उँगलियों का अलकतरा पोंछा गया है। दूसरे पर धोती का रङ्ग घिसा गया है। कितना ही घिसा जाय लेकिन छूटा नहीं है; तो भी बाँयें हाथ की उँगलियों का निशान देखने से बाबू का चेहरा खिल उठा। उसने देखा तो उसमें भी छोटी (कनिष्ठका) उँगली का छोटा-सा निशान है।

डिटेक्टिव ने मन में कहा—"चोर चाहे जो हो, लेकिन जो वहाँ दीवार

पर गिरकर दोनों हाथों से सँभला है उसी ने अपनी धोती और दोनों हाथ का अलकतरा किवाड़ पर पोंछा है। और उसके बायें हाथ की उँगली कटी या टूटी है।"

बस, इसके सिवा उस गोदाम में और कुछ भी काम की चीज़ जासूस ने नहीं पाई। ईंट पर कोई ख़ास निशान नहीं, न पत्थर से चोर का कुछ पता चलनेवाला था। खर जो बहुत सा-पड़ा था उसको इधर-उधर उलटा तो उसमें दो काग़ज़ पाया। एक पोस्टकार्ड और एक हिन्दी अख़बार।

अख़बार का नाम 'भारतमित्र' देखकर डिटेक्टिव ने आप ही आप कहा—"यह ख़बर का काग़ज़ कलकत्ते का है।" और पोस्टकार्ड पढ़ा तो हिन्दी में लिखा था। लिखनेवाले ने बनारस शिवाला डाकघर से छोड़ा था। उसपर डाकख़ाने की मुहर थी। कलकत्ता पहुँचने की तारीख़ जब मुहर में डिटेक्टिव ने देखी तब उसने कहा—"चिट्ठी देखने में जैसी पुरानी मालूम होती है, तारीख़ से वैसी नहीं है।" पते की तरफ़ पढ़ा तो 'लच्छन कहार, C/O सुगनचन्द सोहागचन्द, नं० ३७, काटन स्ट्रीट, कलकत्ता' लिखा था, लेकिन चिट्ठी मुड़िया (मारवाड़ी) में लिखी थी, बंगाली बाबू से पढ़ी नहीं गई। अब उसे जेब में रख कर उस बड़े काग़ज़ को देखने लगे। ऊपर ही बड़े-बड़े अक्षरों में 'भारतमित्र' छपा देखा। उसी के नीचे हाथ से किसी ने लाल रोशनाई से 'भारतमित्र' छोटे-छोटे हरफ़ों में लिखा था। डिटेक्टिव ने उलट-पुलट कर अच्छी तरह देखा, लेकिन और कुछ भी काम की बात उसमें नहीं पाई। निराश होकर चाहता था कि मोड़कर उसे भी जेब के हवाले करे, लेकिन मोड़ने से पहले ही काग़ज़ पर एक ऐसी जगह जासूस की नज़र गई जहाँ हाथ से अंगरेज़ी में कुछ लिखा हुआ दीख पड़ा। मालूम हुआ कि किसी ने उस पर भी 'सुगनचन्द सोहागचन्द, नं० ३७, काटन स्ट्रीट, कलकत्ता' लिखा है। "जिसकी चिट्ठी है उसी का अख़बार भी है। लेकिन अंगरेज़ी जिसकी लिखी है वह अभी हरफ़ बनाना सीखता है।" कहते हुए जासूस ने काग़ज़ भी जेब के हवाले किया। अब गोदाम में और कुछ काम की चीज़ न पाकर वह बाहर आया।

२

बाहर स्टेशनमास्टर बेंच पर बैठे डिटेक्टिव की राह ताकते थे। जासूस ने उनको पाकर पूछा—"आप कहते हैं कि रात को गोदाम में दो पारसल थे; सो सन्दूक़ कहाँ है?"

स्टे० मा०—"सन्दूक़ तो जिसकी थी वह ले गया।"

जा०—"उसकी डेलीवरी आप ही ने की है?"

स्टे० मा०—"नहीं, असिस्टेण्ट स्टेशनमास्टर ने की है। लेकिन उसमें कुछ सन्देह की बात नहीं है। जैसा ताला बन्द था, वैसा ही पाया गया है। चाभी स्टेशनमास्टर-आन-ड्यूटी के पास ही थी। उसी सन्दूक़ की डेलीवरी देने के लिये गोदाम खोला तो सन्दूक़ मिली, लेकिन कपड़े की गाँठ नहीं थी। उसकी जगह पर ईंट-पत्थर मिला। न जाने गाँठ को कोई भूत उठा ले गया, या जिन उड़ा ले गया!"

जा०—"हाँ, उस जिन को तो मैं समझ चुका हूँ। आप अपने स्टेशन के सब नौकरों को बुलाइए, मैं सब की सूरत देखूँगा।"

तुरंत ही स्टेशनमास्टर ने हुक्म दिया; खलासी, सिगनलमैन, चौकीदार, असिस्टेन्ट, सब जासूस के सामने हाज़िर हुए। सब के कपड़े और उँगली देखने पर उस टूटी उँगलीवाले का पता नहीं चला। तब सब को छोड़कर जासूस स्टेशनमास्टर को अलग ले गए और पूछा—"आपके स्टेशन में ऐसा कोई आदमी आता है जिसके बायें हाथ की उँगली टूटी हो?"

स्टेशनमास्टर ने कहा—"नहीं साहब, ऐसा तो कोई आदमी यहाँ नहीं आता।"

जासूस ने उनसे अपने मतलब की कोई बात पाने का भरोसा न देखकर असिस्टेण्टों का पीछा किया। जिसकी ड्यूटी में पार्सल आए थे और जिसने डेलीवरी दी, उनसे अलग-अलग दो बार मिलकर सब बातें पूछने से मालूम हुआ कि कपड़े की गाँठ पार्सल में और सन्दूक़ लगेज में आई थी। सन्दूक़ बड़ी लम्बी-चौड़ी और खूब ऊंची थी। लगेज रसीद लेकर दूसरे दिन जो आदमी माल छुड़ाने आया था वह एक भले आदमी की सूरत का था।

उसको बाबू ने पहले कभी डुमरांव में देखा था सो याद नहीं है। कभी की मुलाक़ात न होने पर भी बड़ी भलमनसाहत और नरमी से बोलता था। एक गौ गाड़ी पर कई कुलियों से अपना माल चढ़ाकर ले गया। 'सन्दूक़ बहुत लम्बी-चौड़ी है' कहने पर कुलियों से उसने बयान किया—'मुसाफिर आदमी है। सब कपड़ा-लत्ता, अरतन-बरतन इसी में रखता है। इसी से इतनी बड़ी सन्दूक़ है।"

जिन कुलियों ने सन्दूक़ गोदाम से ले जाकर बैलगाड़ी पर चढ़ाई थी, उनसे घुमा फिराकर पूछने पर मालूम हुआ कि—

वह सन्दूक़वाला डुमरांव में पहलेपहल आया था। राजा साहब के यहाँ नौकरी करने के इरादे से दूसरे रोज़ दरबार में जायगा। अभी कोई किराये का मकान लेकर ठहरेगा। सन्दूक़ बहुत बड़ी है। सब सामान साथ में रखता है। अगर जल्दी कोई किराये का मकान भी नहीं मिले तो बस्ती में किसी पेड़ के नीचे ठहरकर दो-एक दिन काट सकता है। कुलियों ने यह भी कहा कि नहीं, ऐसी तकलीफ़ नहीं होगी। यहाँ लोगों को ठहरने के वास्ते सराय बनी है। वह वहाँ चाहे तो ठहर सकता है।

इतना हाल मालूम करने पर जासूस मन-ही-मन सब बातों पर विचार करने लगा। उसके मन में इतनी बातें उठीं—

१—बड़ा पेचदार मामला है। गोदाम के दोनों दरवाज़े बन्द हैं, कहीं कोई खिड़की-जँगला भी नहीं है, फिर चोर कहाँ से आया?

२—चोर नहीं आया तो क्या छोटे ही बाबू ने चुराया? लेकिन उस गोदाम की चाभी उसी के पास थी। जो उसका मालिक है, जिस पर उसकी जवाबदेही है, जिसके पास उसकी चाभी है, वह तो कभी चुरा नहीं सकता।

३—चोर तो भीतर ज़रूर घुसा है। उसके बायें हाथ की छोटी उँगली टूटी थी, यह भी मालूम हुआ। लेकिन किधर से घुसा और किधर से गया? फिर गाँठ-की-गाँठ उड़ा ले गया!

४—और अकचकाहट की बात यह है कि गाँठ के बदले ईंट-पत्थर और खर रख गया। यह अजब गोरखधन्धा की बात है। चोर अपने साथ

ईंट-पत्थर और पयार कहाँ से और क्यों लाया था ? और माल चुराकर यहाँ रख जाने का क्या सबब है ?

५—पयार में दो काग़ज़ मिले । दोनों सुगनचन्द सोहागचन्द से मतलब रखते हैं। लेकिन कार्ड पर 'लच्छनलाल, केअर आफ सुगनचन्द सोहागचन्द' लिखा है । क्या जाने, यह महाजन कुछ इसका भेद जानता हो। लेकिन इस गाँठ का भेजनेवाला यही सुगनचन्द सोहागचन्द है, तब वह चोर हो नहीं सकता।

६—अगर सुगनचन्द सोहागचन्द ही चोर हो, तो गाँठ क्या जादू की थी जो यहाँ तक आई और मालगोदाम से गायब हो गई ? इसका भेद कुछ नहीं मिलता।

७—सन्दूक का मालिक तो इसमें कुछ चालाक नहीं मालूम देता । कुली से लेकर बाबू तक उसकी बड़ाई करते हैं । वह पहले पहल डुमराँव में आया है, इतनी बात कुछ सन्देह की है । लेकिन इसके वास्ते इस सुगनचन्द महाजन को हाथ से छोड़ना ठीक नहीं है।

८—पहले उस महाजन को देखना और फिर लच्छनलाल की चिट्ठी पढ़ाना चाहिए। क्या जाने उससे कुछ काम बने।

९—यह काम महाजन का तो नहीं है, क्योंकि भेजनेवाला वही है। अगर गाँठ में ईंट-पत्थर भेजकर महाराज को ठगना चाहता, तो मालगोदाम से गाँठ ग़ायब होने का क्या मतलब है ? किसी तरह महाजन पर सन्देह नहीं जाता। लेकिन लच्छन अलबत्ते लच्छनदार मालूम होता है।

१०—चोर चाहे कोई हो, वह भेदू है। गाँठ का हाल जानता था। बाहर का चोर हरगिज़ नहीं आया।

११—लेकिन जानिबकार चोर बाबू के सिवाय और किसी को नहीं कह सकते और ऐसी हालत में बाबू को चोर समझते भी कलेजा काँपता है।

१२—जो हो, बात बड़ी पेचदार है, चोर बड़ा ही चालाक है। उसने अपनी चतुराई से मामले के चारों ओर ऐसी मोरचेबंदी की है कि बुद्धि को घुमाने की साँस नहीं दीखती।

इसी तरह आगे-पीछे दहने-बायें सब सोच-विचार करके पीछे जासूस स्टेशनमास्टर से मिला और उसने मन की मन में दबाकर कहा—"अब हम जावेंगे।"

स्टेशनमास्टर ने कहा—"जाने के वास्ते तो डाकगाड़ी बक्सर छोड़ा है। आप उसी में जा सकते हैं। लेकिन इस चोरी का कुछ कूलकिनारा आपने पाया या अँधेरे का अँधेरे ही में रहेगा?"

जा०—"अभी आप इसकी कुछ बात मत पूछिए। एक ज़रूरी काम के वास्ते मैं कलकत्ते जाता हूँ। वहाँ से लौटकर आपसे मिलूँगा।"

स्टे० मा०—"अच्छा आप जाइए। लेकिन बाबूसाहब! इतना हम कहेंगे कि स्टेशनमास्टरी में मैं बूढ़ा हो गया। अब मरने का दिन पास आया है, लेकिन ऐसी चोरी कभी देखी न सुनी।"

जा०—"हमको यह चोरी कुछ चक्करदार मालूम होती है, लेकिन इतना हम कहते हैं कि चोरी करनेवाला कोई पक्का खिलाड़ी है। वह भेदी है। भीतर का हाल जानता का। बाहर से चोर नहीं आया।"

स्टे० मा०—"लेकिन गाँठ की जगह ईंट-पत्थर कहाँ से रख गया। वह भी ऐसे कि इस तरफ़ की ईंटों से नहीं मिलतीं। पत्थर पर भी पेटेण्ट-स्टोन खुदा हुआ है। ऐसा पत्थर भी हमने कभी नहीं देखा था।"

जा०—"आप कभी कलकत्ते नहीं गए?"

स्टे० मा०—"नहीं कलकत्ते तो नहीं गया। कई पुश्त से मैं मेमारी ही में रहता हूँ।"

जा०—"इसी से पत्थर आपके लिये नया मालूम हुआ। ऐसी ईंटें भी कलकत्ते में बहुत काम आती हैं।"

स्टे० मा०—"तो कलकत्ते से क्या गाँठ में बन्द करके यही सब आया था?"

जा०—"यह सब अभी आप मत पूछिए। लौटकर मैं सब बतलाऊँगा।"

स्टे० मा०—"अच्छा, आप और सब लौट कर बतलाइएगा, लेकिन यह जो कहा कि चोर बाहर से नहीं आया, इसका मतलब मैंने नहीं समझा।

बाहर से आपका क्या मतलब ? चोर स्टेशन के आदमियों से बाहर का नहीं है या गोदाम के बाहर से नहीं आया ?"

जा०—"यह भी गूढ़ बात है। अब गाड़ी आती है। बाकी बात लौटने पर।"

इतने में घंटी बजी। गाड़ी इन-साइट हुई। उसी पर सवार होकर जासूस कलकत्ते को रवाना हुआ।

३

कलकत्ता पहुँचकर जासूस सुगनचन्द सोहागचन्द से मिला। महाजन से मालूम हुआ कि वह अखबार 'भारतमित्र' मँगाया करता है,। लेकिन उसको पढ़ लेने के बाद कौन कहाँ ले गया, इसकी खबर नहीं रखता। पोस्टकार्ड भी कब आया, किसके पास आया इसका कुछ हाल मालूम नहीं है। लच्छन नाम का एक कहार उस कोठी में नौकर है। वह कई रोज़ से बीमार होकर अपने चाचा के यहाँ गया है। उसका चाचा कहाँ रहता है, इसका पता महाजन से नहीं मालूम हुआ।

जासूस ने मन में कहा कि लच्छन को जो डुमराँव ही में मैंने लच्छनदार समझा था सो सचमुच यही चोर है क्या ! फिर थोड़ी देर तक कुछ सोचकर महाजन से पूछा—"तो उस कहार का काम कौन करता है ?"

महा०— "काम के वास्ते तो उसी ने अपने जान-पहचान के एक आदमी को यहाँ कर दिया है। यह भी उसका कोई नातेदार ही है। लेकिन आप यह सब क्यों पूछते हैं, सो तो कहिए !"

जा०—"मेरे पूछने का मतलब आप नहीं जानते। आपके यहाँ से कुछ माल डुमराँव को चालान हुआ है ?"

महा०—"हाँ, चालान तो हुआ है। लेकिन सुनते हैं वह तो गाँठ-की-गाँठ ही किसी ने चुरा ली है।"

जा०—"हाँ, चुरा तो ली है। और उसकी जगह पर ईंट-पत्थर रख गया है।"

महा०—"यह तो बड़े अचरज की बात है। डुमराँव में भी कलकत्ते के बदमाश पहुँच गए हैं क्या?"

जा०—"देखिए, कहाँ का बदमाश गया है, सो तो मालूम ही हो जायगा। लेकिन चोर बड़ा चालाक है।"

महा०—"हम भी इस चोरी का सब हाल सुनकर अकचका गए। ताला बन्द-का-बन्द और गाँठ ग़ायब। डुमराँव का स्टेशन भी तो कलकत्ता हो रहा है।"

अब पोस्टकार्ड पढ़ाने से मालूम हुआ कि लच्छन के बाप का लिखा है। पन्दरह दिन में रुपया भेजने को कहता है।

"अच्छा, अब जाता हूँ। फिर ज़रूरत होने पर मिलूंगा।" कहकर जासूस कोठी से उतरकर चलता हुआ।

डेरे पर पहुँचकर जासूस ने चिट्ठी बाँटनेवाले पोस्ट-पियून का रूप बनाया। कमर में चपरास और सिर पर दुरंगी पगड़ी रखी। कन्धे में तोबड़ा लटकाकर ख़ासा डाकपियून बन गया। हाथ में छाता लिये ग्यारह बजते-बजते सुगनचन्द सोहागचन्द की कोठी पर जा पहुँचा। इस बार ऊपर न जाकर नीचे ही रहा। पानी के कल पर वह कहार बरतन मलता मिला। सामने दो कनस्तरों में पानी भरा था।

चिट्ठी बाँटनेवाले का रूप बनाये हुए जासूस ने उस कहार से पूछा—"क्योंजी, लच्छन कहार तुम्हारा ही नाम है?"

कहार—"काहे को, कोई चिट्ठी है?"

डाक पि०—"चिट्ठी तो नहीं है, रुपया उसके नाम बनारस से आया है।"

क०—"तो दीजिए न?"

डा० पि०—"तेरा ही नाम लच्छन है?"

क०—"नहीं, वह हमारा ही छोटा भाई है। बनारस में उसका बाप रहता है। वह हमारा चाचा होता है, उसी ने भेजा होगा।"

डा० पि०—"उसका नाम क्या है?"

क०—"नाम बुधई है। हमारे बाप और वह सगे भाई हैं।"

डा०—"तुम्हारे बाप का नाम क्या है?"

क०—"हमारे बाप का तो खेमई नाम है।"

डा०—"अच्छा, तो वह लच्छन कहाँ है?"

क०—"वह तो बीमार होकर डेरे पर पड़ा है।"

डा०—"कहाँ डेरा है?"

क०—"डेरा तो मछुआबाज़ार में है।"

डा०—"अच्छा, अगर तुम चल सको, तो साथ चलो। नहीं तो हम रुपया लौटा देंगे तो फिर नहीं मिलेगा।"

"अच्छा जी, रुपया मत लौटाओ, हम चलते हैं।"—कहकर कहार ने झटपट बरतन धो डाला और चट अपने एक साथी को सौंपकर डाक-पियून के साथ चलता हुआ। जब दोनों मछुआबाज़ार में पहुँचे, तो एक मकान में जाकर कहार ने एक आदमी को दिखा दिया। उसको देखते ही डाक-पियून ने कहा—"क्यों लच्छन, डुमराँव से कब आया?"

लच्छन ने कहा—"मैं तो डुमराँव गया ही नहीं। चाचा से कई बार कहा, वह नहीं जाने देते। जब से जनम हुआ तब से एक बार भी बाप-दादे का डीह नहीं देखा।"

डा० पि०—"अरे यार, हमसे क्यों छिपाते हो? अभी परसों ही डुमराँव में देखा था और कहते हो गए नहीं!"

ल०—"तुम भी अच्छे गप्पी मिले। हम सात आठ दिन से तो इसी चारपाई पर पड़े हैं, परसों तुमने हमको डुमराँव में कैसे देखा था?"

अड़ोस-पड़ोसवालों से भी जासूस को पता मिला कि लच्छन एक अठवाड़े से बीमार पड़ा है। बीमार भी ऐसा कि चारपाई से किसी तरह उठे तो उठे, लेकिन बाहर नहीं जा सकता। कमज़ोरी के मारे दस क़दम चलने के लायक़ भी नहीं है।

अब जासूस के अकचकाने की बारी आई। बात क्या है, कुछ जान नहीं पड़ता। यह लच्छन तो इस लायक़ नहीं है कि डुमराँव जा सके। तब

कुछ देर तक यही मन में विचारकर जासूस ने लच्छन का कार्ड निकालकर कहा—"अच्छा लो, यह तुम्हारी चिट्ठी आई है।"

लच्छन ने हाथ में लेकर देखा और पढ़कर कहा—"अरे, यह तो पुरानी चिट्ठी है। इसी महीने में आई थी।"

डा० पि०—"क्या पहले भी तुमको यह मिल चुकी थी।"

"हाँ, यह तो बहुत दिन की आई है।" अब लच्छन को अकचकाते देखकर डाक-पियून ने कहा—"तुमको मिली थी, तो तुमने किसको दे दिया था? यह तो हमको डाक में मिली है।"

ल०—"डाक में मिली है, तो क्या रुपचन मामा ने कहीं डाक के बम्बे में तो नहीं छोड़ दिया।"

डा० पि०—'रुपचन मामा कौन?"

ल०—"एकठो आए थे। हम लोग तो नहीं जानते, हमारे काका भी नहीं पहचानते, लेकिन कहते थे कि मामा हैं। हमारी मां तो मर गई, इसी-लिये पहचान नहीं सका।"

"यह क़ाग़ज़ भी तुमने उसी को दिया था?" जासूस ने 'भारतमित्र' दिखाकर पूछा।

लच्छन ने कहा—"हमने तो नहीं दिया था। हमारी कोठी में आता है। खबर का काग़ज़ है। यहीं हमारे डेरे में रखा था, लेकिन मालूम नहीं इसको आपने कहाँ से पा लिया?"

डा० पि०—"वह मामा क्या इसी जगह ठहरे थे?"

ल०—"हां, ठहरे तो यहीं थे, लेकिन कोठी में बराबर जाते थे। रात को यहीं रहते थे। दिन को न जाने कहाँ-कहाँ जाते थे। मालूम नहीं है।"

डा० पि०—"वह कब से तुम्हारे यहाँ ठहरे रहे?"

ल०—"हमारे बीमार पड़ने से सात दिन पहले ही आए थे।"

डा० पि०—"तुम्हारे बीमार पड़ने पर भी वह कोठी में बराबर जाते रहे?"

ल०—"हाँ, कोठी में तो बराबर ही जाते रहे।"

डा० पि०—"यहाँ से कब गए ?"

ल०—"यहाँ से तो हमारे बीमार पड़ने के दो ही दिन बाद चले गए।"

डा० पि०—"तुमने उनको और भी पहले कभी देखा था ?"

ल०—"नहीं, और तो पहले कभी नहीं देखा था।"

डा० पि०—"तुम घर चलोगे ? अगर चलो तो मैं तुमको बेखर्चा के ले चलूँगा।"

ल०—"हम से चला कहाँ जायगा। चारपाई से उतरने में तो दम फूलने लगता है।"

डा० पि०—"हम तुमको यहाँ से बग्घी पर ले चलेंगे। वहाँ से बराबर गाड़ी पर डुमराँव चलना होगा। तुमको पैदल तो चलना नहीं होगा।"

ल०—"सो तो है, लेकिन चाचा नहीं जाने देंगे।"

इतने में एक आदमी उसी कमरे में आया। उसको देखते ही लच्छन ने कहा। "चाचा तो आ गए।" फिर चाचा से कहा—"काहे चाचा ! घर जाँय ?"

चाचा—"अरे, अभी खरचा कहाँ है।"

ल०—"खरचा यह देते हैं।"

चा०—"इनको क्या काम है ?"

अब डाक-पियून ने लच्छन के चाचा को अलग ले जाकर बहुत कुछ समझाया और दस रुपये का एक नोट देकर कहा—"तुम इसको जाने दो, घर जायगा तो वहाँ बीमारी भी दूर हो जायगी। देश का हवा-पानी लगेगा तो सब रोग भाग जायगा।"

जब खेमई ने लच्छन से सब हाल सुना तब उसे डाक-पियून को सौंप दिया।

अब डाक-पियून उसे अपने साथ बग्घी में बिठाकर वहाँ से चलता हुआ।

४

दूसरे दिन डुमराँव से कोस-डेढ़-कोस की दूरी पर दह में धोबी आछोः-आछोः करके कपड़े धो रहे थे। किनारे पर दूर तक सुन्दर सुथरे कपड़े फैले पड़े थे। एक बूढ़ा धोबी हाथ में कपड़ा सरियाकर गा रहा था—

जेहि दिन राम के जनमवाँ ए भाइजी,

बाजेला अवधवा में ढो...ओ...ल।

थर थर काँपेला गरबी रवनवाँ पा—

मुंदई जनमलन मो...ओ......र।

बिरहा खतम होते-होते दो आदमी एक्के पर सवार दह के पास पहुँच गए। किनारे से थोड़ी दूर पर इक्का खड़ा हुआ। दोनों सवार उतरकर किनारे पर टहलने और कपड़ा देखने लगे।

एक सवार क़द का बड़ा न बहुत छोटा है। बदन का हट्टा-कट्टा जवान है। सिर पर टोपी नदारद है, बदन में कमीज़ के ऊपर काले सर्ज की कोट है। बड़ी-बड़ी मुरेरदार मूँछों से चेहरा वीर का जान पड़ता है। चौड़े ललाट और शांत गम्भीरता-व्यञ्जक नेत्रों से बुद्धिमानी की आभा फूटी पड़ती है। काली किनारी की साफ़-सुथरी धोती बदामी बूट पर शोभा दूनी कर रही है। हाथ में चाँदी मढ़ा मलाका बेत की छड़ी है। उमर इस बाबू की ४० बरस की होगी। दूसरा क़द में उससे लम्बा, बदन का दुबला है, उमर कोई ५० बरस की होगी। दाढ़ी और मूँछ के एक बाल भी काले नहीं हैं। सिर ऊँचे और घेरदार मुरेठे से ढका है। भाव से बाबू का पुराना नौकर मालूम देता है। बात-बात में 'हुजूर!' कहकर उस बाबू की ताज़ीम करता है।

धोबी-धोबन अकचकाने लगे कि यह दो आदमी कौन एक्के पर आए हैं, न दह के पार जाते हैं, न पीछे लौटते हैं। इसी की भावना में सब सिर झुकाये अपना कपड़ा पाट पर पीटने लगे। बिरहा गाने वाले ने अपने बग़लवाले से कहा—"मालूम होता है डुमरी के साहु के कोई हैं, वहीं जाते हैं।"

उसने कहा—"डुमरी जाते हैं तो अबेर काहे करते हैं!"

तीसरे ने कहा—"नहीं कहीं जाना नहीं है। कोई बड़े आदमी हैं, टहलने आए होंगे। मालूम होता है, भोजपुर में किसी के घर पाहुने आए हैं।"

इतने में एक्केवान उनके पास आ गया। उससे धोबियों ने पूछा—"डुमरी जावोगे का भैया?" एक्केवान ने कहा—"नहीं हो, हियें तक घूमे आए हैं। हवा खा के टेसन को लौट जाहें।"

बस सब के मन की उकताहट मिट गई। उधर दोनों आदमी चेहल-क़दमी करते और किनारे का एक-एक कपड़े देखते जाते थे। एक जगह एक धोती फैली पड़ी थी, उसे दिखाकर टहलनेवाले ने कहा—"क्यों लच्छन! वह काले दागवाली धोती तुम पहचान सकते हो, किसकी है?"

लच्छन ने कहा—"हाँ, यह तो हमारे मामा की ही है। यह पहनकर वह कलकत्ते गए थे, लेकिन इसमें जो काला दाग है सो नहीं था।"

चतुर पाठक पहचानते होंगे, यह वही जासूस है जो डाक-पियून बनकर मछुआबाजार में लच्छन के घर गए थे और उसे साथ लेकर डेरे पर आए। वहाँ से एक भले आदमी का रूप बनाया और साथ में लच्छन को बूढ़े के रूप में लेकर उसी दिन हवड़ा आए। गाड़ी में सवार होकर दूसरे दिन सबेरे डुमरांव पहुँचे और एक्के पर सवार होकर वहाँ से दह देखने को आए हैं। उसके पीछे जो हो रहा है सो पाठक जानते हैं।

लच्छन की बात सुनकर जासूस ने कहा—"तुमने अपने मामा का बायाँ हाथ अच्छी तरह देखा था?"

ल०—"अच्छी तरह देखा तो था। कानी (कनिष्ठिका) उँगली सदा बाँधे रहते थे। जब तक रहे, तबतक उनकी उँगली में दरद रहा।"

जासूस ने मन में कहा—ठीक है। वही बदमाश यहाँ तक आया है। फिर पूछा—"यह तुम कैसे जानते हो कि यह धोती वही है?"

ल०—"यही है साहब। इसकी किनारी में बँगला लिखा है। एक ओर का आँचर फटा हुआ है। देखिए, इसमें भी आँचर एक ही ओर है लेकिन यह काला दाग नहीं था। हम बराबर उनकी धोती फींचते रहे;

लेकिन काला दाग़ कभी नहीं देखा।"

"अच्छा, ठीक है",—कहकर जासूस वहाँ से धोबी के पास आया। उसी बिरहा गानेवाले बूढ़े से पूछा—"क्योंजी, वह कपड़े किसके हैं?"

धोबी—"आप भी अच्छा पूछते हैं। वह कपड़े क्या एक आदमी के हैं?"

जा०—"अरे वह उधरवाली किनारीदार धोती, जिस पर काला दाग़ लगा है और एक ओर का आँचर नहीं है।"

धोबी—"वह एक मुसाफ़िर की है। पहचानते हैं, लेकिन नाम नहीं जानते।"

जा०—"अच्छा नाम नहीं जानते तो घर पहचानते हो?"

धोबी—"घर भी नहीं पहचानते। आज ही कपड़ा देने का वादा है। यहीं वह कपड़ा दे गया था और यहीं से ले भी जायगा।"

जा०—"कब ले जायगा?"

धोबी—"अब आता ही होगा। दोपहर के बाद आने को बोला था।"

जा०—"अच्छा भाई, जाने दो। उससे कुछ मत कहना। यह धोती बहुत बढ़िया है। इसी से हम मालिक का नाम जानना चाहते थे। उससे पूछते कि ऐसी बढ़िया धोती कितने दाम पर कहाँ से खरीदी गई है। मालूम होता तो हम भी लेते। इसकी किनारी पर बड़े रसीले दोहे लिखे हुए हैं।"

धोबी—"क्या लिखा है बाबू, हमको भी बतला दीजिए तो वह रसीला दोहरा याद कर लें। हमको भी इन बातों से शौक है। कवित्त, चौपइया हम बहुत याद करते हैं।"

जा०—"अच्छा तुमको चाह है तो लो, बतलाए देते हैं उस पर दोहे लिखे हैं।"

और जासूस ने मैथिल कवि विद्यापति के पद सुना दिए।

धोबी—"वाह बाबू जी, वाह! यह तो खूब रसीला दोहा है।"

इतने में सामने से एक अकड़बेग आता हुआ दिखाई दिया। धोबी ने कहा—"देखो बाबू, वही आदमी धोतीवाला आता है।"

बस, इतना सुनते ही दोनों टहलनेवाले वहाँ से दूर हट गए—मानों मुसाफिर हैं, धोबी से कुछ बातचीत नहीं है। उधर वह आदमी भी पास आ गया। उसका पहनाव-पोशाक भले आदमी का है। मलमल का खूब बढ़िया कमीज है। बूताम चाँदी के लगे हैं। कड़कड़ाते हुए चिकने कफ़ और प्लेट देखने से विलायती माल मालूम देता है। कमर से नीचे आस्मानी रङ्ग की लहर मारती हुई फरसडाँगा की काली किनारीवाली धोती है। पाँव में काला वार्निश का चमचमाता लैसदार जूता है। हाथ में सींग की काली छड़ी है। सिर पर रेशमी मुरेठा है। आबताब से एक बड़े घर का जवान मालूम देता है। पास आ जाने पर जासूस ने देखा तो उसकी दसो उँगली सही सलामत हैं। लच्छन ने भी जासूस के कान में कहा—"यह तो हमारे मामा नहीं हैं।"

जासूस ने "चुप रहो" कहकर उसका मुँह बन्द किया और टहलते-टहलते धोती के पास आए। अकड़बेग ने भी धोबी से आते ही कहा—"क्यों बे धोबी! धोती तैयार है?"

धो०—"हाँ, सरकार सूखती है।"

अक०—"अरे सूरज डूबता है तौ भी सूखती ही है?"

धो०—"का करें बाबू, तैयार तो बड़ी देर से है। आजकल का घाम ही तेज़ नहीं, नहीं तो अब तक कभी की सूख गई होती।"

अक०—"हम तो स्टेशन पर से आते हैं। गाड़ी आने का वक्त हो गया। फिर कैसे बनेगा?"

धो०—"लो बाबूजी! आप ले न जाइए, सूख भी तो गया। गाड़ी के वास्ते तो आप ही देर करके आए हैं। आते ही हम अगर आपको हाथ में दे देते तौ भी आप गाड़ी नहीं पा सकते थे!"

धोबी इतना कहता हुआ पानी में से निकला और उसकी धोती सरियाकर दे दी। उसने देखकर कहा—"अजी तुमने यह दाग़ छुड़ाया ही नहीं।"

धोबी—"वह तो बाबूजी अलकतरा का दाग़ है। हम धोते-धोते थक गए, लेकिन नहीं छूटा।"

अक०—"तो फिर तुम्हें इनाम कैसे दें ?"

धो०—"कोई धोबी इस दाग़ को छुड़ा दे बाबूजी, तो हम टाँग की राह से निकल जाँय। हम लोग राजदरबार का कपड़ा धोनेवाले हैं, दूसरे का तो काम ही नहीं करते।"

अक०—"तो लो, दो पैसे अपनी धुलाई ले लो। अगर दाग़ छुड़ा देते तो हम इनाम भी देते। तुमने दाग़ नहीं छुड़ाया, इसी से हमारी तबीअत खुश नहीं हुई।"

इतने में जासूस ने घड़ी निकालकर देखी और कहा—"देखो जी लच्छन! चलो जल्दी, अब गाड़ी आया चाहती है।"

लच्छन एक्केवाले को पुकारने गया। इधर जासूस से अकड़बेग ने कहा—"क्यों जनाब, आप लोग भी गाड़ी ही पर जावेंगे क्या?"

जा०—"हाँ साहब, गाड़ी ही पर जाना है।"

अकड़०—"मैं भी तो साहब, गाड़ी ही पर जानेवाला था। हमारा एक साथी स्टेशन पर बैठा है। हम दोनों आदमी तैयार होकर स्टेशन पर आए, तब धोबी की याद आई। वहाँ से एक्के पर आता था। भोजपुर के नाले में आकर घोड़े ने ठोकर ली। एक्का भी गिरा, पहिया टूट गया। एक्केवाले को भी बड़ी चोट आई। भगवान की दया से मुझे चोट नहीं आई। जब देखा कि एक्का अब काम का नहीं रहा, तब उस नाले पर से पैदल आया हूँ। आप अपने एक्के पर मुझे बिठा लें तो बड़ी दया करें। मैं पैदल चल कर गाड़ी नहीं पा सकूँगा।"

जासूस तो चाहता ही था। पहली बार मंजूर करके कहा—"कुछ परवाह नहीं। आप आइए। शरीफ़ की इज्ज़त शरीफ़ ही समझता है। फिर हमको भी तो उसी गाड़ी पर जाना है।"

इतना कहकर उसको भी उसी एक्के पर चढ़ा लिया। अब तीनों आदमी को बिठाकर एक्केवान ने घोड़ा हाँका। सड़क कच्ची लेकिन ठीक थी। बीच में दो-तीन नाले पड़े; उनको पार करके कोई आधे घंटे में एक्का सब सवारों को लादे डुमराँव के स्टेशन आ दाख़िल हुआ।

एक्का ज्योंही स्टेशन के सामने खड़ा हुआ, अकड़बेग उतर पड़ा। जासूस भी लच्छन के साथ उतरा। तीनों मुसाफ़िरख़ाने में गए। अकड़बेग ने अपने साथी से कहा—"यार, बड़ी आफ़त में पड़ गए। एक्का बीच रास्ते ही में जाकर टूट गया। मैं तो वहाँ पैदल गया था। लेकिन लौटती बेर यह बाबू मिल गए; इन्हीं ने हमको अपने एक्के पर यहाँ पहुँचाया है। नहीं तो गाड़ी नहीं मिलती।"

लच्छन ने खूब घोपदार दाढ़ी-मूँछ पहना था। इसी से अकड़बेग के साथी ने उसको नहीं पहचाना। लेकिन लच्छन ने झट पहचानकर सिर हिलाया और जासूस से आँखों का टेलीग्राम करके कह दिया कि यही हमारे मामा साहब हैं।

अँधेरा हो चला था। सूर्य-देव पश्चिम में छिप चुके थे, सन्ध्या की तिमिर-वरणी छाया गहरी होती जाती थी। इतने में दूसरी घंटी बजी। गाड़ी दीख पड़ी। हरहराती हुई पसिञ्जर डुमराँव के स्टेशन में आ खड़ी हुई। लच्छन के मामा पहले से टिकट ले चुके थे, या क्या, झट इन्टर-क्लास में दोनों जा बैठे। जासूस ने भी भीतर जाकर इन्टरक्लास के दो टिकट लिए और उसी गाड़ी में उन दोनों के पास वाले कमरे में जा बैठे। टन टन टन, टन टन टन, टन टन टन, घंटा बजा। गाड़ी सीटी देकर चलती हुई।

५

गाड़ी दिलदारनगर में पहुँचकर कोई बीस मिनट खड़ी रही। इतने में एक लीला हुई। देखा तो मुसाफिरों की भीड़ में बाबू सब से टिकेट ले रहे हैं। रेलवे पुलीस का एक कानिस्टबल "अरे कोई बैरन है, भाई, बैरन?" कहकर पुकारता है। बाबू—"यह बैरिंग है यह", कहकर गाँठ लादे और गोद में लड़का लिये हुए मुसाफिरों को उनके हवाले करते जाते हैं। जब सब मुसाफिर चले गए, चार रह गए; तीन हवड़े से आते हैं, एक के साथ एक छोटा सा लड़का था। एक के पास बत्तीस सेर, दूसरे के पास अड़तीस सेर, तीसरे के पास साढ़े तैंतीस सेर माल है। सब से तीन-तीन रुपये लेकर

स्टेशनवालों ने छोड़ दिया। यह लड़केवाला हुगली से आता है। सो हुगली का पूरा महसूल उससे लिया गया। वह बारहा चिल्लाया किया—"बाबू जी दस बरस का लड़का है," लेकिन बाबू ने कहा—"चुप रहो सुअर, वहाँ बाबू को रुपया देकर बिना टिकट आया है।" मुसाफिर ने कहा—"तब तो बाबू जी, आप बड़ा धरम करते हैं, एक रुपया वहाँ भी दिया, पूरा महसूल आप लेते हैं तो कितना पड़ गया।" बाबू ने कहा—"यह इस वास्ते है कि तुम फिर ऐसा नहीं करोगे।"

इतने में बाबू ने "आलराइट सर" कहा। गार्ड ने झण्डी दी। गाड़ी सीटी बजाकर चलती हुई। पूछने पर मालूम हुआ कि सकलडीहा से कोई मालगाड़ी आती थी, इसी वास्ते पैसिञ्जर उसके आने तक ठहरी रही।

गाड़ी जब सकलडीहा स्टेशन में पहुँची, मोगलसराय जब एक ही स्टेशन रह गया, लच्छन के मामा अपने साथी को जगाकर आप बेंच पर सो गए थे—जासूस ने घात पाकर उसके जेब में हाथ डाला। उसमें दो रुपये छींट की एक रूमाल में बँधे रक्खे थे। जासूस ने उसको अपने जेब के हवाले किया। फिर हाथ दूसरी ओर के जेब में डाला। वह कुछ नीचे दबा था। हाथ डालते ही लच्छन के मामा अकचका कर उठे और झट जासूस का हाथ पकड़ लिया। कहा—"क्यों रे पाजी! चोर कहीं का, जेब में हाथ डालता है?"

जासूस ने काँपती जीभ से कहा—"नहीं सरकार, हम चोर नहीं हैं।"

लच्छन के मामा—"ठीक है, ठीक। मैं समझ गया, तू चोर है। तभी डुमराँव के राह से पीछा किया है। मैंने ठीक पहचाना नहीं। एक्के पर चढ़ के वहाँ तक आया, तूने घात नहीं पाया, यहाँ सो जाने पर जेब टटोलता है। तू कलकत्ते का गिरहकट है।"

जा०—"नहीं सरकार......"

इतने में मामा ने अपने दूसरे जेब में हाथ डाला तो रुपया बँधी रूमाल नदारद! अब तो जकड़कर जासूस को पकड़ा। इतने में गाड़ी मोगलसराय के स्टेशन में जा खड़ी हुई। मामा ज़ोर से 'चोर-चोर' चिल्लाने लगे।

रेलवे पुलिस के कानिस्टबल आए, सब-इस्न्पेक्टर पहुँचे। देखा, तो गाड़ी में एक जवान भले आदमी की पोशाकवाले को दो आदमी पकड़े 'चोर-चोर' चिल्ला रहे हैं। एक चौथा बूढ़ा बगल में चुपचाप बैठा है। सबको पुलीस ने उतारा। पूछने पर बूढ़े ने कहा—"हाँ साहब, इन्होंने उसके जेब में हाथ डाला था।"

जामा तलाशी लेने पर उसके जेब से रुपचन मामा का माल मिला। अब पुलीसवालों ने उस गिरहकट को उसी दम पकड़ लिया और मुद्दई को भी दोनों गवाहों के साथ रोक रखा। जब कानिस्टबल चोर को गारद में बन्द करने के लिये ले गया तब भीतर जाकर चोर ने उससे कहा—"देखो जी, हम चोर नहीं, पुलीस के आदमी हैं। चोर वही दोनों हैं। वह बूढ़ा मेरा साथी है। तुम जाकर दरोग़ा साहब को यहाँ भेज दो।"

कानिस्टबल ने कहा—"क्या ख़ूब आप ! चोर औरों को बनावें। दारोग़ा और हम तुम्हारे नौकर हैं रे बदमाश ?"

इतना कहकर कानिस्टबल ने आँख बदली। कुछ और मुँह से बकना चाहता था कि चोर ने अपनी कमर में एक चीज़ दिखाई। कानिस्टबल ने उसे देखते ही पीछे हटकर सलाम किया। कमर में जासूस का निशान देखकर कानिस्टबल ने पहचान लिया और अदब से सलाम करके दरोग़ा साहब को बुलाया। दरोग़ा ने गारद में आकर कहा—"क्यों जनाब, क्या मामिला है ?"

उसने कहा—"मामिला ऐसा है कि दोनों डुमरांव के स्टेशन से पाँच हज़ार का माल चुराकर भागे जाते हैं। मैं अकेला इन दो दो पहलवानों से पार नहीं पाता और इन्होंने रास्ते में सकलडीहा स्टेशन से ही उतरने का इरादा किया था। तब मैंने यही सोचा कि इसका कुछ चुराना चाहिये। बस, रूमाल चुरा ली। उसमें रुपये बँधे थे। जब नहीं जागा तब दूसरे पाकेट में हाथ डालकर जगाया। जो बूढ़ा बैठा था वह मेरा कहार है।"

"ओफ़, तब तो आपने कमाल किया। माफ़ कीजिए, कहिए अब क्या करना चाहिये ?"

"अब उन दोनों को हथकड़ी भर दो। माल जो दो गठरी में लिये हुए हैं, वही माल मसरूका है। उसमें शाल, दुशाले, लोई, अलवान और रेशमी कपड़े हैं। सब पाँच हज़ार की गठरी महाराज के वास्ते कलकत्ते से आई थी। उसी को गोदाम से इन्होंने उड़ा लिया है।"

दारोग़ा ने कहा—"हाँ हाँ, कई रोज़ हुए तार आया था। वही माल तो नहीं कि ताला बन्द का बन्द ही था और गठरी ग़ायब हो गई है?"

"हाँ, हाँ! वही है।" कहकर चोररूपधारी जासूस ने कहा—"उनको जल्दी गिरफ़्तार करो।" चोर बड़े मज़बूत थे। दस कानिस्टबल दो हथकड़ी लिये उनके पास गए और सब-इन्स्पेक्टर के आँख देते ही दोनों को हथकड़ी भर दी। गारद से चोर साहूकार बनकर बाहर आया, जो साहूकार बने थे वह चोर हुए। अपराध की ऐसी तुम्बाफेरी यहीं देखने में आई।

अब दोनों गिरफ़्तार होकर गारद में बन्द हुए। दोनों की गठरी खोली गई तो दोनों में शाल, दुशाले और रेशमी कपड़े भरे थे। तार देकर सुगन-चन्द सोहागचन्द को बुलाया गया। महाजन ने अपने गुमाश्ते के साथ आकर माल पहचाना। एक कपड़ा भी नहीं गया था। सब फ़िहरिस्त के मुताबिक मिल गया।

अब जासूस ने गारद में अकेले जाकर पूछा—"देखो, अब तो सब माल मिल गया। तुम लोग माल के साथ ही पकड़े गए। अब सच्चा हाल कह दो, कैसे चुराया था?"

कुछ भरोसा देने पर लच्छन के मामा ने कहा—"देखो बाबू, हमने जिस तरकीब से चोरी की उससे तो तुम्हारा पकड़ना और बढ़कर है। हम लोगों को सपने में भी पकड़े जाने का डर नहीं था। अगर ऐसा समझते तो और तरकीब कर डालते। लेकिन ख़ैर, अब तो पकड़े ही गए। नहीं कहने से भी नहीं छूट सकते। सुनो हम सब हाल-बयान करते हैं।"

६

अब लच्छन के मामा ने बयान किया—

हम लोग बनारस के रहनेवाले हैं। चोरी ही का रोज़गार करने कलकत्ते

पहुँचे थे। सुना था कि वहाँ पुलीसवाले बड़े चतुर होते हैं। सो यही देखने गए थे। कलकत्ते जाकर लच्छन के यहाँ पहुँचे। लच्छन का बाप बनारस में रहता है। बनारस से चलते ही उससे लच्छन का हाल, उसका मशहूर महाजन सुगनचन्द-सोहागचन्द के यहाँ नौकरी करना, मालूम हो गया था। बस वहाँ जाकर लच्छन के मामा बन गए। सुगनचन्द-सोहागचन्द की कोठी में बराबर आना जाना रहा। सब ख़बर नौकरों से मिलती रही। एक रोज़ मालूम हुआ कि डुमरांव के राजा ने पाँच हज़ार का शाल, दुशाला, लोई, अलवान और रेशमी कपड़े माँगे हैं। मैं बराबर भेद लगाता रहा। दो दिन पहले से मालूम हो गया कि माल परसों जायगा और माल वहाँ से आदमी बाली ले जायगा, वहाँ से पार्सल में रवाना होगा। हम दो साथी थे। एक धर्मशाला में ठहरा था। उसी ने ख़ूब लम्बी-चौड़ी सन्दूक़ तैयार कराई, उसमें ऊपर से बंद करने का निशान था, लेकिन भीतर से बन्द होता था। मैं उसी में बैठ गया और दो-चार ईंट, एक पत्थर का टुकड़ा उसमें रखकर नीचे पयार बिछाकर लेटा। ऊपर से भी साथी ने पयार भर दिया कि मुझे चोट न लगे। मेरे साथी ने बाबू को एक रुपया देकर उसी कपड़े के पार्सल के साथ अपना लगेज चढ़वा दिया। आप लगेज-रसीद लेकर उसी गाड़ी में सवार हुआ। रात को गाड़ी डुमरांव पहुँची। लगेज रात को नहीं लिया। गोदाम में सन्दूक़ और पार्सल (कपड़े की गाँठ) दोनों रखे गए; वहाँ अँधेरा था। बाहर से ताला बन्द था। भीतर से मैं सन्दूक़ खोलकर बाहर निकला और कपड़े की गाँठ उसमें रखकर ईंट पत्थर, पयार, सब निकाल दिया। फिर आप भीतर बैठकर अन्दर से चाभी बन्द कर ली। हमारा साथी सधा था ही। आकर उसने रसीद दी और पार्सल छुड़ा ले गया। बाबू लोगों ने कुछ नाह-नूह की, लेकिन उन्हें भी एक रुपया दिया। बोझा भारी कहकर बाबू ने वज़न करने का बखेड़ा लगाना चाहा था, लेकिन मेरे साथी ने दो रुपया उसके वास्ते अलग नज़र किया। अब कुछ भी रोकटोक नहीं हुआ। कुलियों को मुँह मांगा देकर सन्दूक़ छुड़ा लेगया। बाहर भोजपुर के पास नाले में जाकर गाड़ीवाले को हम लोगों ने बिदा कर दिया। जब वह अपनी आशा से दूना

इनाम पाकर चला गया तब मैं बाहर हुआ और सन्दूक़ को वहीं तोड़ फोड़कर डाल दिया।

"गठरी के दो हिस्से करके दोनों आदमी ने कन्धे पर लिया और डुम-राँव की सराय में जा ठहरे। गोदाम में मेरी धोती अलकतरे से चफन गयी थी उसको धोबी को दे दिया। वही धोती हमारी समहुत की थी, इसीसे उसके लिये डुमराँव में ठहरे रहे। किसी ने कुछ भेद तो नहीं पाया, लेकिन मैं मन में डरता था कि यहाँ की देरी अच्छी नहीं है, सो ही हुआ। न जानें आपने कैसे पता पा लिया।"

जा०—"गोदाम में तुमने धोती का रङ्ग और हाथ का किवाड़ में पोंछा था?"

चो०—"हाँ, जब मैं गिरा तब दोनों हाथ और पीठ में अलकतरा चफन गया था। हाथ भी किवाड़ में पोंछा था। जब छूटने का भरोसा नहीं दीखा, तब सन्दूक़ में जा बैठा था।"

बनारस के कोतवाल ने आकर देखा तो पहचाना और कई बार का सज़ा पाया हुआ पुराना चोर कहा।

जासूस माल के साथ दोनों को गिरफ़्तार करके डुमरांव ले गया। डेलीवरी करनेवाले बाबू ने चोर के साथी को पहचाना, फिर उसका बयान लेकर जासूस माल के साथ दोनों को कलकत्ते ले गया। वहां क़ानून के अनुसार इन दोनों पर मुक़द्दमा हुआ। अदालत से अपराध उनका साबित होने पर पुराना चोर होने के कारण दोनों दस-दस बरस को क़ैद हुए। जासूस को महाजन की ओर से ५००) इनाम और सरकार से प्रशंसापत्र मिला। अब जासूस ख़ुश होकर दूसरे मुक़द्दमे में तैनात हुआ।

श्री चण्डीप्रसाद 'हृदयेश'

'हृदयेश' जी का जन्म सन् १८६६ ई० में और देहान्त सन् १६२८ ई० में हुआ। हिन्दी के कथा-क्षेत्र में जिस शैली को लेकर आपने प्रवेश किया, उसमें आप अपना एक अलग स्थान बना गए। आचार्य स्व० रामचन्द्रजी शुक्ल ने आपकी गणना उन कहानी लेखकों की श्रेणी में की है, जिनकी कहानियाँ "परिस्थितियों के विशद और मार्मिक वर्णनों और व्याख्यानों के साथ मंद-मधुर गति से चलकर किसी एक मार्मिक परिस्थिति में पर्यवसित होनेवाली हैं।"

आपकी कहानियों की सबसे बड़ी विशेषता है भाषा का चमत्कार। कवित्व-पूर्ण शैली के साथ अलंकारिक भाषा का प्रयोग आपकी कहानियों में एक जीवन डाल देता है। पर इसी कारण कहीं-कहीं आपके वर्णन कृत्रिम और अरोचक हो गए हैं।

शान्ति-निकेतन

१

पारिजात-निकुञ्ज में स्फटिक-शिला पर बैठी हुई हास्यमुखी कल्पना ने विषाद-वदना चिन्ता के चिबुक को कर-कमल से उठाकर कहा—"बहन! चलो, इस चन्द्रिका-धौत गगन-मण्डल में बिहार करें।" चिन्ता ने अन्य-मनस्क होकर उत्तर दिया—"ना बहन! मुझे इस कुञ्ज की सघन छाया ही में विश्राम मिलता है।"

कल्पना ने अभिमान में भरकर लोचन अश्रुपूर्ण करके कहा—"बैठो बहन! मैं तो इस विस्तृत ब्रह्मांड के प्रत्येक धाम का निरीक्षण करूँगी।" चिन्ता को चिन्ता-निमग्न छोड़कर कल्पना चन्द्रिका-चर्चित नभ-प्रदेश में विहार करने के लिये चली गई।

कल्पना के कलित कलेवर में शीतल समीर ने सुरभित सुमन-समूह का पराग लेकर अंगराग लगाया; चन्द्रिका ने हँसकर सुधा-स्नान कराया; अम्बर ने नीलांबर पहनाया; तारकावली ने हीरकहार पहनाया; स्वर्ग-मंदाकिनी ने कर-कमल में कांचन-कमल का उपहार दिया। इस प्रकार सुसज्जित होकर, सर्वत्रगामी मनोरथ पर आरूढ़ होकर कल्पना कनकराज्य में विचरण करने के लिये निकली। और चिन्ता ? विषाद-वदना चिन्ता उसी पारिजात-कानन के स्निग्ध छायामय निकुञ्ज में बैठकर किसी की चिन्ता करने लगी।

निद्राभिभूत चन्द्रशेखर कल्पना के रथ की गति को देखने लगे। देखते-देखते मनोरथ दृष्टि-पथ से अन्तर्हित हो गया। चन्द्रशेखर व्याकुल होकर कल्पना के लिये पुकारने लगे। उनकी आँख खुल गई; स्वप्न की स्निग्ध आभा चैतन्य के अत्युज्ज्वल आलोक में विलीन हो गई।

प्रातःकाल का शीतल पवन ललित लताओं को आलिङ्गन करता हुआ बह रहा था; कनक-कुञ्ज में बैठकर कलित-कंठ कोकिला कोमल कुसुम को जगाने के लिये प्रभाती गा रही थी; यामिनी उषा को अपना राज्य देकर सघन वन की अंधकारमयी छाया में तप करने के लिये जा रही थी।

कल्पना चिन्ता को निकुञ्ज में परित्याग करके स्वयं संसार में परिभ्रमण कर रही थी।

चन्द्रशेखर ने देखा—आश्चर्य और आह्लाद के अपूर्व सम्मिश्रण में, स्वप्न और सत्य के सुवर्ण राज्य में, ध्यान और ध्येय के विचित्र सम्मिलन में, अभिलाषा और पूर्ति की अनोखी संधि में देखा—कल्पना फूलों के राज्य में विहार कर रही है।

चन्द्रशेखर ने निकट जाकर पूछा—"कौन ? कल्पना !"

कल्पना ने उत्तर दिया—"मैं कल्पना नहीं, किशोरी हूँ।"

कल्पना की भाँति किशोरी भी उसी क्षण अन्तर्हित हो गई।

चन्द्रशेखर अनिमेष लोचन से देखने लगे।

कुतूहल और कल्पना दोनों सहोदर हैं।

२

यामिनी और उषा के अन्तिम आलिङ्गन के समय, स्मृति और प्रत्यक्ष की क्षणिक संधि के अवसर पर, स्वर्ग और संसार के निमेषव्यापी मिलन के मुहूर्त में, स्वप्न और सत्य के चुम्बन-व्यापार के क्षण में चन्द्रशेखर ने किशोरी का कान्त दर्शन प्राप्त किया था।

उस समय विकार का आडम्बर नहीं था; स्निग्ध शान्ति का सुन्दर सुराज्य था। चन्द्रशेखर ने जो दृश्य देखा, वह भूलने योग्य नहीं था। संसार के रंगमंच पर सौन्दर्य का एक अपूर्व अभिनय था। चन्द्रशेखर केवल दर्शक ही नहीं थे, उन्होंने उस अभिनय में भाग भी लिया था। तब भला वह उसे कैसे भूल सकते थे! स्वर्ग से दूर रहकर भी पुण्य-प्रवृत्ति ऊँची उठती है; पंक में पतित होकर भी हीरक-ज्योति अपनी आभा का विस्तार करती है; विपत्ति के अन्धकार गह्वर में भी आत्मा का आलोक दृष्टिगोचर होता है। तब स्वभाव के सुकुमार बन्धन में बँधकर मनुष्य अपनी कृति की स्मृति को कैसे विस्मृत कर सकता है?

चन्द्रशेखर का हृदय किशोरी के नवयौवन-वन में विहार करने लगा। लावण्यसरोवर के विकच इन्दीवर-नयन में, प्रफुल्ल गुलाब के सुकोमल पल्लवाधर में, तुषार-कण-सिक्त विकसित कमल-कपोल में, नव-दूर्वादल-श्याम रोमराजि में, हिमाचल के कलित कनक-शृङ्ग में, चन्द्रशेखर का हृदय तन्मय होकर विहार करने लगा।

चन्द्रशेखर संसार में रहकर भी कल्पना-किशोरी की मधुर मूर्ति के साथ स्वर्ग में विहार करने लगे। इस स्वर्ग में समीर था किन्तु शीतलता नहीं थी; तन्मयता थी, किन्तु आनन्द नहीं था; राग था, किन्तु उतार नहीं था। चन्द्रशेखर प्रणय-पर्वत पर स्थित होकर अचेत होने लगे। कौन जानता था कि उनका पतन स्वर्ग में होगा, अथवा रसातल में! इस सम्बन्ध में क्या चन्द्रशेखर सदुपदेश को सादर ग्रहण करेंगे?

किशोरी किशोरावस्था की सीमा पर पहुँच चुकी थी। यौवन की उद्दाम प्रवृत्ति की रंगभूमि में किशोरी ने प्रथम चरण रक्खा था। यौवन

के तीव्र मद की अरुणिमा उसके नयन-कमलों में दृष्टिगोचर होने लगी थी। उसकी गति में भी सुरा का मतवालापन परिलक्षित होता था। आनन्द-मद से भरी हुई निःश्वास एवं प्रत्येक अंग का विकास खिलती हुई कली के सदृश प्रतीत होता था। कैसा अपरुप लावण्य था! शरत्काल के विमल जल की भाँति, दर्पण की स्वच्छता की भाँति, सती के प्रेम की भाँति उसका समस्त शरीर देदीप्यमान हो रहा था। कमलिनी ने अभी तक बालरवि के प्रथम किरण-स्पर्श से उत्पन्न होनेवाले विद्युत्प्रवाह का अनुभव नहीं किया था, कुमुदिनी ने कलाधर की सुधा-धारा में अवगाहन नहीं किया था। कैसी मनोरम संधि थी! स्वच्छ सुन्दर गगन में मानो लालिमा की प्रथम रेखा थी; कैशोर-कानन में यौवन-बसंत का मानो प्रथम पद-संचरण था; प्रतिपदा और द्वितीया के योग सुधाधर की मानो पहली कला थी; स्वच्छ तुषार के ऊपर मानो बालरवि की प्रथम किरण थी; पकते हुए रसाल के ऊपर प्रकृति की लेखनी से चित्रित की हुई मानो प्रथम अरुणरेखा थी; नन्दन-वन की पारिजात-लता का मानो प्रथम विकास था; सौन्दर्य की रंगभूमि पर रतिदेवी की मानो पहली तान थी।

परिधान। सुन्दर शरत्काल की यामिनी मानो चन्द्रिका की साड़ी पहनकर खड़ी हुई थी; गुलाब की अधखिली कली मानो जुही की साड़ी पहनकर विहार करने आई थी; आदिकवि की कल्पना मानो वाणी का शुभ्र अंबर परिधान करके साहित्य के उपवन में घूम रही थी; आत्मा मानो उज्ज्वल सत्य की साड़ी पहनकर पतिव्रता के परम पावन वन में पुष्प-चयन कर रही थी! चन्द्रशेखर इस रूप पर, इस वेश पर, बलिहार हो गए।

चन्द्रशेखर उपवन में इधर-उधर घूमने लगे। उपवन उसी प्रकार शान्त और मनोरम था; किन्तु चद्रशेखर को प्रतीत होता था, मानो प्रत्यक्ष स्मृति के गर्भ में लोप हो गया; ध्वनि प्रतिध्वनि के गर्भ में लीन हो गई; राग मूर्च्छा के विवर में विलुप्त हो गया और राज-राजेश्वरी भगवती कल्याण-सुन्दरी की मृदुल हास्यध्वनि निस्तब्धता की गम्भीर गुफा में अन्तर्हित हो गई।

३

कितने ही दिवस व्यतीत हो गए। ऋतुराज का रामराज्य समाप्त हो गया; ग्रीष्म का भीषण साम्राज्य भी अन्तर्हित हो गया। उत्तप्त कलेवर पर पीयूष-प्रवाह की भाँति, पश्चात्ताप-दग्ध हृदय पर करुणामय की अजस्र अरुणा-धारा की भाँति, शापसंतप्त मानव-मानस पर दया की आशीर्वाद-लहरी की भाँति, सूर्य-तप्त पृथ्वीमण्डल पर नील-श्याम सघन घन की शीतल वारि-धारा पतित होने लगी। चन्द्रशेखर की स्मृति-दामिनी, भूतकाल के सघन अंधकार को पाकर और भी तीव्रता से चमकने लगी। घोर अन्धकार के मध्य में दामिनी की वह तीव्र ज्योति—स्मृति का अक्षय-दीपक—किशोरी का वह कल्पनामय कान्ति कलेवर, चन्द्रशेखर को दुख देकर भी कराल काल की कालिमामय कन्दरा में पतित होने से बचा लेता था।

सुविशाल गम्भीर महासागर में निमग्न होता हुआ नाविक दूर पर—बहुत दूर पर—पृथ्वी और आकाश की मिलन-सीमा पर—उड़ती हुई जल-यान की वैजयन्ती का दर्शन पाकर, जिस प्रकार मृत्यु की भीषण कन्दरा में पतित होने से बचने के लिए चेष्टा करता है, सहस्र-सहस्र विपत्तियों के जाल में आबद्ध मानव, दूर पर भविष्य के अन्धकारमय गगन में—आशा की कल्पनामय ज्योति को देखकर जिस प्रकार इस असार-संसार पर अपनी स्थिति को सुरक्षित रखने के प्रयत्न में प्रवृत्त होता है; उद्भ्रान्त पथिक, निराशा के भयंकर मरुप्रदेश में उत्तप्त रेणुका-राशि के मध्य में, दूर पर—बहुत दूर पर—मरीचिका की मायिक छटा को देखकर, जिस प्रकार अपने प्राणों को इस नश्वर देह में कुछ काल के लिये और भी बन्दी रखने का प्रयास करता है, ठीक उसी प्रकार चन्द्रशेखर, किशोरी को—अपने हृदय-साम्राज्य के एकमात्र आधार-स्तम्भ को—अपने मानसरोवर के एकमात्र विकसित सरोज को—अपने प्रणय-पादप के एकमात्र विकच पुष्प को—अपनी जीवन-व्यापिनी यामिनी के एकमात्र उज्ज्वल नक्षत्र को—दूर पर, समाज और धर्म की सीमा के परे, लोक और परलोक के अन्तिम छोर पर, स्वर्ग और संसार की अन्तिम रेखा पर, देखकर उसकी मृदु मुसकान पर

अपना सर्वस्व, लौकिक और पारलौकिक, वार देने के लिये, प्रेम के पारावार को पार करके अपनी रक्षा करने की चेष्टा में प्रवृत्त हो रहे हैं। हाय चन्द्रशेखर ! तुम्हारा कैसा दुस्साहस है, कैसा असम्भव अभिमान है, कैसा व्यर्थ स्वार्थ-त्याग है।

चन्द्रशेखर प्रायः सब समय ही उपवन में रहते हैं। वह कल्पना का साहचर्य पाकर, किशोरी को नायिका बनाकर, भावों की रसलहरी को प्रभावित करके अपने हृदय-पट पर, अव्यक्त भाषा में मनोहर चिन्ता-छन्द में एक महाकाव्य की रचना करते हैं। छन्द के साथ कहीं वीणा भी बज जाती ! रस-मन्दाकिनी यदि कहीं उन चरण-कमलों को भी चूम पाती ! कल्पना यदि कहीं किशोरी का शृङ्गार कर पाती ! किन्तु उषा के बिना प्रातःकाल का वैभव निष्फल है, पात्र के बिना रस का आधार नहीं है, सौन्दर्य के बिना भक्ति का प्रवाह व्यर्थ है, और किशोरी के बिना जगत् शून्य है।

चन्द्रशेखर उसी शून्य में आत्म-विस्मृत होकर घूमने लगे। उपवन की फल-विनम्र पादप-राजि, कुसुमाभरण-भूषिता लता-श्रेणी, दुग्ध-फेन-विनिन्दित दूर्वादल, कलकंठ पक्षिकुल, अधिक क्या, प्रकृति का सम्पूर्ण वैभव भी, उनको अनेक प्रलोभन देकर शून्य में जाने से न रोक सका।

चन्द्रशेखर निरुद्देश-हृदय, अनियंत्रित गति, उदासीन मति, अवांछित आशा और अशेष ज्वाला के साथ, इस जगत् के महाशून्य में गृह को परित्याग करके चल दिए। सब कुछ टूट गया; केवल एक बन्धन है; जीवन की विद्युत् के साथ उसका सम्बन्ध है। जिस दिन वह टूटेगा, उस दिन सम्भवतः—चन्द्रशेखर इस जगत् में नहीं रहेंगे।

कैसा आश्चर्य है—कठिन जीवन एक सूक्ष्म तन्तु पर अवलम्बित है।

४

महाशून्य की महाशांति कैसी भयंकर है ! अर्द्ध-निशा के समय श्मशान-भूमि में, यामिनी के तृतीय प्रहर की समाप्ति के समय, मरणोन्मुख व्यथित की मृत्यु-शय्या के पार्श्व-देश में, निर्घोष उल्कापात के समय तिमिरावृत गगन-मंडल में, निर्बोध के हृदय पर अत्याचार के समय नीरव आघात में—

कैसी भयंकर शांति होती है, उसका अनुभव इस मत्सरमय संसार को अनेक बार प्राप्त हुआ है। उसी महाशून्य की महाशांति में, महारात्रि की महा-नीरवता में, चन्द्रशेखर कूद पड़े हैं। महाज्योति का आभास पाकर, महा-सङ्गीत का निनाद सुनकर, चन्द्रशेखर पार हो सकेंगे या नहीं, इस विषय में सन्देह करना मूर्खता का लक्षण नहीं है।

चन्द्रशेखर ने अनेक तीर्थों में परिभ्रमण किया, अनेक पुनीत-सलिल सरिताओं में स्नान किया, अनेक जनशून्य काननों में परिभ्रमण किया, किन्तु उस महाशून्य में वल्लकी के स्वर कभी नहीं गूँजे, आनन्द की भैरवी का रव कभी कर्णगोचर नहीं हुआ, अभिलाषा के ताल पर आशा के उस मनो-हर नृत्य की पद-झंकार कभी नहीं सुनाई दी। उसी महाशांति के बीच में चन्द्रशेखर एकाकी घूमने लगे। महाशून्य में परिव्याप्त महावायु ने मानो उनकी हृदयाग्नि को और भी भयंकर रूप से प्रज्वलित कर दिया। अब वेदना का नीरव दंशन, व्याधि की निर्दोष ज्वाला उनके उस काम-कल्प कोमल कलेवर को भस्मसात् करने का प्रबल आयोजन करने लगी।

कहाँ है वह स्निग्ध नवनीत-तुल्य शांति—जो शांति संसार-त्यागी महा-त्माओं का भी हृदय आकर्षित कर लेती है, सघन वन में उत्पन्न होनेवाली कली को चूमकर हँसा देती है, शैल-शिखर पर स्थित होकर औषधि-वर्ग में संजीवनी-शक्ति का सञ्चार कर देती है, नन्दन-कानन में पारिजात को विक-सित करती है। ऋषियों के हृदय में आत्मा के स्वरूप का—आनन्द की अक्षय ज्योति का—दर्शन कराती है, उषा के निद्रित नयनों में प्रद्युम्न की मनोहर मूर्त्ति को लाकर स्थापित करती है, निर्बोध बालक के मंजुल मुख पर मन्द हास्य, मातृत्व के पवित्र वक्ष-स्थल में करुणा और भ्रातृत्व के पवित्र हृदय-सदन में स्वार्थ-त्याग की लहरी प्रवाहित करती है, जिसकी छाया में योगी की आत्मा निर्वाण-पद को प्राप्त करती है, जिसके आश्रय में सुर-निवास स्वर्ग की पदवी धारण करता है, जिसके चरण-तल में स्थित होकर धर्म अपनी रक्षा करता है, पुण्ड-पादप जिसकी पद-निःसृत मन्दाकिनी से सिंचित होकर ऊर्ध्वमूल कहलाता है, जिसकी प्रणय-मुद्रा को देखकर त्रसित आश्वस्त

हो जाते हैं । जिसकी मृदु मुसकान देखकर अचल अचल हो जाते हैं, जिसका वीणाविनिन्दित स्वर सुनकर, उन्मत्त होकर, वायु मन्द-मन्द बहने लगता है, जिसकी कान्ति को देखकर जल, आत्मविस्मृत होकर, निर्मल शान्त होकर, अनन्त की ओर प्रवाहित होता है, वह शान्ति—प्यारी शान्ति—कहाँ है ? चन्द्रशेखर उसके लिये व्यग्र हो गए । उस शान्ति को प्राप्त करने के लिये अशान्त हो गए । उमड़ा हुआ हृदय-पयोधि नयनों से बह चला । वह अश्रुधारा हृदय की धधकती हुई अग्नि में घृत-धारा अथवा शीतल वारि-धारा होकर पतित होगी—सो कौन कह सकता है ?

गिर पड़े । चन्द्रशेखर हिमाचल की उस परम रम्य उपत्यका में, कदली-वन-वाहिनी कल्लोलिनी के कोमल दुकूल पर, चन्द्रिका-चर्चित शिलाखण्ड पर, मन्द पवनान्दोलित कुसुम-शय्या पर, शान्ति का पवित्र आश्रय न पाकर मूर्च्छा के कोमल क्रोड़ में पतित हो गए ! मूर्च्छा शान्ति का क्षीण आभास है ।

५

मूर्च्छा निद्रा की सहोदरा है । जिस प्रकार निद्रा श्रमित विश्व को अपने विशाल वक्षःस्थल पर सुलाकर शान्ति प्रदान करती है, उसी प्रकार मूर्च्छा भी व्यथित प्राणी को अपनी गोद में लेकर उसे शान्ति प्रदान करके फिर तुमुल संग्राम के लिये प्रस्तुत करती है । मूर्च्छा के कोमल क्रोड़ को छोड़कर निद्रा की आनन्ददायिनी गोद में चन्द्रशेखर कब आए—सो भगवती ही जाने ।

× × ×

चन्द्रशेखर ने स्वप्न देखा—

वर्षा-ऋतु का प्रथम प्रातःकाल है । कैलाश के कांचन-शिखर पर नवीन नी[illegible]धर मरकत और कनक के अपूर्व संयोग की अनोखी छटा को दिखा रहे हैं । कद[illegible] के अभ्यन्तर में कोकिल अपने कलकण्ठ से बोल रही है । मानस सरोवर का शुभ्र निर्मल जल गगन-व्याप्त सघन घनपुञ्ज की छाया को धारण करके कालिन्दी के घनश्याम-रञ्जित नील जल की समता

कर रहा है। गोपिकाएँ मानो मराल-माला बना कर नील नीरज को चतुर्दिक् से परिवेष्ठित कर रही हैं। मयूर हर्षोन्माद से नृत्य कर रहे हैं। पवनान्दोलित जल तरंग-माला यौवन के प्रथम आवेग में, एक दूसरे के गले में मिलकर काल्पनिक सुख का अनुभव कर रही है। समय कैसा सुन्दर है; कैसा शान्त और मनोरम है।

उन्होंने देखा—सूर्य-किरण-माला का उल्लासप्रद नृत्य नहीं है, किन्तु शीतल छाया की मनोहर पद-झङ्कार है; वसंत का विकारवर्द्धक वायु नहीं है, वरन् व्याकुल हृदय को शीतल करनेवाली मंद समीर है; ज्योति का तीव्र तेज नहीं है, वरन् शांत स्निग्ध छाया है। चन्द्रशेखर ने स्वप्न में उस चिर-अभिलषित शांति का सुखद सहवास प्राप्त किया।

उन्होंने देखा—एक लता-मंडप में एक शिलाखंड पर, नृत्य एवं कलोल करती हुई कल्लोलिनी के तट पर कल्पना और चिन्ता बैठी हुई हैं। चिन्ता का मुखमण्डल मानो दया का पारावार था, कल्पना का सुन्दर वदन-मंडल मानो शृङ्गार की मन्दाकिनी थी। चन्द्रशेखर कुसुमाच्छादित द्वार-देश पर खड़े होकर उन दोनों की बातें सुनने लगे।

कल्पना ने कहा—"बहन! कहाँ है वसंत का वह मनोहर वेश? कहाँ है समीर की वह मदमत्त गति? कहाँ है कोकिल की वह उन्मत्त कूक? ज्ञात होता है, मानो एक महान् छाया ने अपने अंचल में उस वसंत के सूर्य को छिपा लिया है।"

चिन्ता ने कहा—"ना बहन! यह वसंत का परिवर्तित वेश है। विलास के गान से मुखरित वन में आज शांति का कोमल स्वर परिव्याप्त हो रहा है। सूर्य की अभिमानिनी किरणमाला को अपने वक्षःस्थल में छिपाकर भगवान की सुस्निग्ध छाया अपनी उदारता का परिचय दे रही है। बहन, ब्रह्मांड के समस्त धामों में विहार न करके यदि केवल उसी में विहार किया जाय, जिसके चतुर्दिक अनन्त ब्रह्मांड घूमते हैं, तो जीवन का दुःख सुख में परिवर्तित हो सकता है। उन्मत्त युवक वसंत प्राहृट् सन्यासी के रूप में परिवर्तित हो सकता है। आज वसंत का वही सन्यास वेश है।

वसन्त संसार का साम्राज्य छोड़कर, प्रकृति के विशाल वक्षःस्थल पर, उसके स्तनद्वय की पुण्य पीयूषधारा को पान करके, ज्ञान की कांचन-कन्दरा में निर्वाणदायिनी शांति का आश्रय ग्रहण कर रहा है। कल्पना! देखती हो, इस मूर्ति को?"

कल्पना ने कहा—"हाँ देखती हूँ, बहन।"

चिन्ता ने कहा—"तब आओ! तुम्हारे पृथक् रहने की आवश्यकता नहीं। मेरी विभिन्न विभूति की भाँति अब तुम भी मेरे ही में अंतर्हित हो जाओ।"

कल्पना चिन्ता में तल्लीन हो गई; किन्तु चिन्ता के मुख पर वही मन्द हास्य था, जिसे शिशु माता के मुख पर, बाल-किरण कुसुम के अधर पर, योगी ऊषा के वदन पर, त्यागी सन्तोष के ओष्ठ पर और व्याकुल शान्ति के उज्वल आनन पर देखता है। चन्द्रशेखर ने देखा—प्रकृति की प्रकृत शान्ति विशुद्ध चिन्ता के रूप में, योगियों के हृदय-सदन में, बालकों के मन-सुमन में, और विश्वप्रेम के परोपकार-प्रासाद में रहती है। चन्द्रशेखर आनन्दातिरेक से जाग उठे।

× × ×

चन्द्रशेखर ने देखा—सामने एक वृद्ध योगेश्वर बैठे हैं। चन्द्रशेखर ने उन्हें प्रणाम किया। योगीश्वर ने आशीर्वाद देकर कहा—"वत्स, मेरे साथ आओ।"

धर्म विश्वास को, त्याग परोपकार को और सन्तोष नैराश्य को मन्त्र-दीक्षा देने के लिये ले चला।

चन्द्रशेखर और योगीश्वर ने उसी कदली-वन में प्रवेश किया। चन्द्र-शेखर को प्रतीत हुआ कि उनके उत्तप्त हृदय पर मानों शांति-कादम्बिनी की प्रथम पीयूषधारा पतित हुई।

योगीश्वर और चन्द्रशेखर उस कदली-वन के अभ्यन्तर अग्रसर होने लगे। मधुर स्वर से पतन होनेवाली जल धारायें, झूमती हुईं कुसुमाभरण-भूषिता लताओं की गोद में हँसते हुए गुलाब कुसुम, चित्र-विचित्र पक्षिकुल

का मधुर स्वर—सब मिलकर योगीश्वर और चन्द्रशेखर का अभिनन्दन करने लगे। कदली-दल ने अपने दीर्घ बाहुओं को मानों उन्हें आलिङ्गन देने के लिये प्रसारित किया। चन्द्रशेखर और योगीश्वर प्रकृति के साम्राज्य में विचरने लगे। कदली-कानन के अभ्यन्तर एक वन्य चमेली का मनोहर लता-मण्डप है। पीत पुष्पों से समस्त वनस्थली वसन्त की शोभा का परिहास कर रही है। इधर-उधर से दो तीन झरने कलकल शब्द करते हुए बह रहे हैं। उसी लता-मण्डप के सम्मुख योगीश्वर और चन्द्रशेखर खड़े हो गए। योगीश्वर ने कहा—"चन्द्रशेखर! स्वप्न की बात स्मरण है?"

चन्द्रशेखर ने उत्तर दिया—"हाँ प्रभो, स्मरण है। इस समय मैं स्वप्न को सत्य के स्वरूप में देख रहा हूँ।"

योगीश्वर ने कहा—"देखोगे—आगे चलकर और भी देखोगे। अपने प्रेम के व्यक्तित्व को अनन्त महासागर में निमग्न कर दो।"

चन्द्रशेखर ने कहा—"कैसे करूँ भगवन्, जिसको हृदय से सिंहासन पर बिठाया है, उसे उतारकर महाशून्य में कैसे फेंक दूँ?"

योगीश्वर ने हँसकर कहा—"चन्द्रशेखर, महाशून्य में नहीं। मैं कहता हूँ अनन्त में। आँखें उठाओ।"

चन्द्रशेखर ने आँखें उठाकर देखा—लता-मण्डप में वन्य-पुष्पों के कोमल आसन पर, अनन्त सुषमामयी भगवती भारतमाता खड़ी हैं। चन्द्रशेखर ने नत-शिर होकर उन्हें प्रणाम किया।

योगीश्वर ने कहा—"देखते हो, कैसी मोहिनी मूर्ति है। कैसा जननी-स्वरूप है! मानो मातृत्व की विमल धारा दोनों स्तनों से बहकर संसार में शान्ति-पीयूष को प्रवाहित कर रही है। देखो माँ का हीरक-खचित शुभ्र किरीट, नीलांचल-चित्रित अम्बर! और देखो माँ का यह ऐश्वर्य! इन्हीं माँ के पादपद्मों में अपने प्रेम-व्यक्तित्व की अंजलि समर्पण कर दो। विश्वप्रेम का पवित्र मन्त्र ग्रहण करो।"

चन्द्रशेखर ने कहा—"और किशोरी?"

योगीश्वर ने चन्द्रशेखर के शिर पर हाथ रखकर कहा—"किशोरी को

गिरिराज-किशोरी के रूप में देखो।"

चन्द्रशेखर ने कहा—किशोरी मानो माता की ममता-लहरी से चन्द्रशेखर को अभिषिक्त कर रही है; सौन्दर्य व्यक्तित्व को हटाकर संसार को अपनी वात्सल्यमय मुसकान और प्रेममयी करुणा-धारा से शीतल कर रहा है।

चन्द्रशेखर ने माता को साष्टाङ्ग प्रणाम किया। ज्ञात हुआ कि उत्तप्त कलेवर पीयूष में स्नान करके शीतल हो गया; वंदना मानो करुणा की आशीर्वाद-लहरी में अवगाहन करके शान्त हो गई। चन्द्रशेखर ने अपूर्व शान्ति प्राप्त की।

माता का कोमल क्रोड़ ही शान्ति-निकेतन है।

पं० चंद्रधर शर्मा, गुलेरी

श्री गुलेरी जी का जन्म विक्रमी संवत् १९४० में और स्वर्गवास विक्रमी संवत् १९९८ में हुआ। आप संस्कृत के प्रकांड पंडित थे। आपने कहानियाँ गिनती की तीन लिखीं।

फिर भी 'उसने कहा था'—आपकी एक उत्कृष्ट कहानी है। यह संवत् १९७२ की 'सरस्वती' में छपी थी। इस कहानी का सब से सुन्दर अंश उसका अन्तिम दृश्य है। मृत्यु के समय जीवन की विभिन्न घटनाएँ जिस रूप में नेत्र-पटल के सामने आ जाती हैं उसका चित्र बहुत ही सुन्दर और मनो-वैज्ञानिक ढङ्ग से अंकित किया गया है। अनेक दृष्टियों से इस कहानी की उत्कृष्टता के कारण ही गुलेरी जी की ख्याति कथाकार के रूप में हो गई है। साथ ही हिन्दी कथा के इतिहास में भी इस कथा ने अपना एक स्थान बना लिया है।

उसने कहा था

बड़े-बड़े शहरों के इक्के-गाड़ीवालों की ज़बान के कोड़ों से जिनकी पीठ छिल गई है और कान पक गए हैं उनसे हमारी प्रार्थना है कि अमृत-सर के बंबूकार्टवालों की बोली का मरहम लगावें। जब बड़े-बड़े शहरों की चौड़ी सड़कों पर घोड़े की पीठ को चाबुक से धुनते हुए इक्केवाले कभी घोड़े की नानी से अपना निकट संबंध स्थिर करते हैं, कभी राह चलते पैदलों की आँखों के न होने पर तरस खाते हैं, कभी उनके पैरों की अँगु-लियों के पैरों को चींथकर अपने ही को सताया हुआ बताते हैं और संसार भर की ग्लानि, निराशा और क्षोभ के अवतार बने नाक की सीध चले जाते हैं, तब अमृतसर में उनकी बिरादरीवाले तंग चक्करदार गलियों में, हर एक लड्ढीवाले के लिये ठहरकर, सब्र का समुद्र उमड़ाकर, 'बचो खालसा जी', 'हटो भाई जी', 'ठहरना भाई', 'आने दो लाला जी', 'हटो बाछा', कहते

हुए सफेद फेटों, खच्चरों और बतकों, गन्ने और खोमचे और भारेवालों के जंगल में से राह खेते हैं। क्या मजाल है कि जी और साहब बिना सुने किसी को हटना पड़े। यह बात नहीं कि उनकी जीभ चलती ही नहीं, चलती है, पर मीठी छुरी की तरह महीन मार है। यदि कोई बुढ़िया बार-बार चितौने देने पर भी लीक से नहीं हटती तो उनकी वचनावली के ये नमूने हैं—हट जा, जीणे जोगिए; हट जा, करमा वालिए; हट जा, पुत्तां प्यारिए; बच जा, लबी बालिए। समष्टि में इसका अर्थ है कि तू जीने योग्य है, तू भाग्योंवाली है, पुत्रों को प्यारी है, लंबी उमर तेरे सामने है, तू क्यों मेरे पहियों के नीचे आना चाहती है? बच जा।

ऐसे बंबूकार्टवालों के बीच में होकर एक लड़का और लड़की चौक की एक दूकान पर आ मिले। उसके बालों और इसके ढीले सुथने से जान पड़ता था कि दोनों सिख हैं। वह अपने मामा के केश धोने के लिये दही लेने आया था और यह रसोई के लिये बड़ियाँ! दूकानदार एक परदेशी से गुथ रहा था, जो सेर-भर गीले पापड़ों की गड्डी को गिने बिना हटता न था।

"तेरे घर कहाँ है?"

"मगरे में,—और तेरे?"

"माँझे में;—यहाँ कहाँ रहती है?"

"अतरसिंह की बैठक में, वे मेरे मामा होते हैं।"

"मैं भी मामा के यहाँ आया हूँ, उनका घर गुरुबाज़ार में है।"

इतने में दूकानदार निपटा और इनका सौदा देने लगा। सौदा लेकर दोनों साथ-साथ चले। कुछ दूर जाकर लड़के ने मुस्कुराकर पूछा—'

"तेरी कुड़माई (=सगाई) हो गई?" इस पर लड़की कुछ आँखें चढ़ाकर 'धत' कहकर दौड़ गई और लड़का मुँह देखता रह गया।

दूसरे-तीसरे दिन सब्जीवाले के यहाँ, या दूधवाले के यहाँ, अकस्मात् दोनों मिल जाते। महीना भर यही हाल रहा। दो-तीन बार लड़के ने फिर पूछा—"तेरी कुड़माई हो गई?" और उत्तर में वही 'धत्' मिला। एक दिन

जब फिर लड़के ने वैसे ही हँसी में चिढ़ाने के लिये पूछा, तब लड़की, लड़के की संभावना के विरुद्ध, बोली—"हाँ, हो गई।"

"कब?"

"कल;—देखते नहीं यह रेशम से कढ़ा हुआ सालू।" लड़की भाग गई। लड़के ने घर की राह ली। रास्ते में एक लड़के को मोरी में ढकेल दिया, एक छाबड़ीवाले (=खोमचेवाले) की दिन-भर की कमाई खोई, एक कुत्ते पर पत्थर मारा और गोभीवाले के ठेले में दूध उड़ेल दिया। सामने नहा कर आतीं हुई किसी वैष्णवी से टकरा कर अंधे की उपाधि पाई। तब कहीं घर पर पहुँचा।

२

"राम-राम, यह भी कोई लड़ाई है। दिन-रात खदकों में बैठे हड्डियाँ अकड़ गईं। लुधियाने से दसगुना जाड़ा, और मेंह और बरफ ऊपर से। पिंडलियों तक कीचड़ में धँसे हुए हैं। गनीम कहीं दिखाता नहीं;—घंटे दो घंटे में कान के परदे फाड़नेवाले धमाके के साथ सारी खंदक हिला जाती है और सौ-सौ गज धरती उछल पड़ती है। इस गैबी गोले से बचे तो कोई लड़े। नगरकोट का ज़लज़ला सुना था, यहाँ दिन में पचीस ज़लज़ले होते हैं। जो कहीं खंदक से बाहर साफ़ा या कुहनी निकल गई तो चटाक से गोली लगती है। न मालूम बेईमान मिट्टी में लपेटे हुए हैं या घास की पत्तियों में छिपे रहते हैं।"

"लहना सिंह, और तीन दिन हैं। चार तो ख़ंदक में बिता ही दिये। परसों 'रिलीफ़' आ जायेगी और फिर सात दिन की छुट्टी। अपने हाथों झटका करेंगे और पेट भर खाकर सो रहेंगे। उसी फरंगी मेम के बाग़ में—मख़मल की सी हरी घास है। फल और दूध की वर्षा कर देती है। लाख कहते हैं, दाम नहीं लेती है। कहती है, तुम राजा हो, मेरे मुल्क को बचाने आए हो।"

"चार दिन तक पलक नहीं झँपी। बिना फेरे घोड़ा बिगड़ता है और बिना लड़े सिपाही। मुझे तो संगीन चढ़ा कर मार्च का हुक्म मिल जाय, फिर

सात जर्मनों को अकेला मार कर न लौटूँ तो मुझे दरबार साहब की देहली पर माथा टेकना नसीब न हो। पाजी कहीं के, कलों के घोड़े—संगीन देखते ही मुँह फाड़ देते हैं और पैर पकड़ने लगते हैं। यों अँधेरे में तीन-तीन मन का गोला फेंकते हैं। उस दिन धावा किया था—चार मील तक एक जर्मन नहीं छोड़ा था। पीछे जनरल साहब ने हट आने का कमान दिया, नहीं तो—"

"नहीं तो सीधे बर्लिन पहुँच जाते। क्यों!" सूबेदार हजारा सिंह ने मुस्करा कर कहा—"लड़ाई के मामले जमादार या नायक के चलाये नहीं चलते। बड़े अफसर दूर की सोचते हैं। तीन सौ मील का सामना है। एक तरफ बढ़ गये तो क्या होगा ?"

"सूबेदार जी, सच है," लहना सिंह बोला—"पर करें क्या ? हड्डियों में जो जाड़ा धँस गया है। सूर्य निकलता नहीं और खाई में दोनों तरफ़ से चम्बे की बावलियों के-से सोते झर रहे हैं। एक धावा हो जाय तो गरमी आ जाय।"

"उदमी, उठ, सिगड़ी में कोले डाल। वजीरा, तुम चार जने बाल्टियाँ लेकर खाई का पानी बाहर फेंको। महासिंह, शाम हो गई है, खाई के दरवाज़े का पहरा बदला दें।" यह कहते हुए सूबेदार सारी खंदक में चक्कर लगाने लगे।

वजीरासिंह पलटन का विदूषक था। बाल्टी में गँदला पानी भर कर खाई के बाहर फेंकता हुआ बोला—"मैं पाधा (=पुरोहित) बन गया हूँ। करो जर्मनी के बादशाह का तर्पण!" इस पर सब खिलखिला पड़े और उदासी के बादल फट गये।

लहना सिंह ने दूसरी बाल्टी भरकर उसके हाथ में देकर कहा—"अपनी बाड़ी के खरबूजों में पानी दो। ऐसा खाद का पानी पंजाब भर में नहीं मिलेगा।

"हाँ, देश क्या है, स्वर्ग है। मैं तो लड़ाई के बाद सरकार से दस गुना जमीन यहाँ माँग लूंगा और फलों के बूटे लगाऊँगा।"

"लाड़ी होरां (=स्त्री) को भी यहां बुला लोगे ? या वही दूध पिलाने-वाली फरंगी मेम—"

"चुप कर। यहां वालों को शरम नहीं।"

"देस-देस की चाल है। आज तक मैं उसे समझा न सका कि सिख तमाकू नहीं पीते। वह सिगरेट देने में हठ करती है, ओठों में लगाना चाहती है, और मैं पीछे हटता हूँ तो समझती है कि राजा बुरा मान गया, अब मेरे मुल्क के लिये लड़ेगा नहीं।"

"अच्छा, अब बोधसिंह कैसा है ?"

"अच्छा है।"

"जैसे मैं जानता ही न होऊँ। रात-भर तुम अपने दोनों कंबल उसे उढ़ाते हो और आप सिगड़ी के सहारे गुज़र करते हो। उसके पहरे पर आप पहरा दे आते हो। अपने सूखे लकड़ी के तख्तों पर उसे सुलाते हो, आप कीचड़ में पड़े रहते हो। कहीं तुम न माँदे पड़ जाना। जाड़ा क्या है मौत है और 'निमोनिया' से मरनेवालों को मुरब्बे नहीं मिला करते।"

"मेरा डर मत करो। मैं तो बुलेल की खड्ड के किनारे मरूँगा। भाई कीरतसिंह की गोदी पर मेरा सिर होगा और मेरे हाथ के लगाये हुए आँगन के आम के पेड़ की छाया होगी।"

वजीरासिंह ने त्यौरी चढ़ाकर कहा—"क्या मरने-मराने की बात लगाई है ! मरे जर्मनी और तुरक ! हाँ भाइयो, कुछ गाओ।"

× × ×

कौन जानता था कि दाढ़ियोंवाले, घरबारी सिख गंदे गीत गायँगे, पर सारी खंदक गीत से गूँज उठी और सिपाही फिर ताज़े हो गए, मानों चार दिन से सोते और मौज ही करते रहे हों।

३

दो पहर रात गई है। अँधेरा है। सन्नाटा छाया हुआ है। बोधसिंह खाली बिसकुटों के तीन टिनों पर अपने दोनों कंबल बिछाकर और लहना-सिंह के दो कंबल और एक बरानकोट ओढ़कर सो रहा है। लहनासिंह पहरे

पर खड़ा हुआ है। एक आँख खाई के मुँह पर है और एक बोधसिंह के दुबले शरीर पर। बोधसिंह कराहा।

"क्यों बोधा भाई, क्या है ?"

"पानी पिला दो।"

लहनासिंह ने कटोरा उसके मुँह से लगाकर पूछा—"कहो कैसे हो ?" पानी पीकर बोधा बोला—"कपनी छूट रही है। रोम-रोम में तार दौड़ रहे हैं। दाँत बज रहे हैं।"

"अच्छा, मेरी जरसी पहन लो।"

"और तुम !"

"मेरे पास सिगड़ी है और मुझे गर्मी लगती है; पसीना आ रहा है।"

"ना, मैं नहीं पहनता; चार दिन से तुम मेरे लिये—"

"हाँ, याद आई। मेरे पास दूसरी गरम जरसी है। आज सबेरे ही आई है। विलायत से मेमें बुन-बुनकर भेज रही हैं। गुरू उनका भला करें।" यों कहकर लहना कोट उतारकर जरसी उतारने लगा।

"सच कहते हो !"

"और नहीं झूँठ ?" यों कहकर नाहीं करते बोधा को उसने ज़बरदस्ती जरसी पहना दी और आप खाकी कोट और जीन का कुरता भर पहनकर पहरे पर आ खड़ा हुआ। मेम की जरसी की कथा केवल कथा थी।

आधा घंटा बीता। इतने में खाई के मुँह से आवाज़ आई—"सूबेदार हजारासिंह !"

"कौन ? लपटन साहब ? हुकुम हुज़ूर !" कहकर सूबेदार तन कर फ़ौजी सलाम करके सामने हुआ।

"देखो, इसी दम धावा करना होगा। मील-भर की दूरी पर पूरब के कोने में एक जर्मन खाई है। उसमें पचास से ज़ियादह जर्मन नहीं हैं। इन पेड़ों के नीचे-नीचे दो खेत काटकर रास्ता है। तीन-चार घुमाव हैं। जहाँ मोड़ है वहाँ पंद्रह जवान खड़े कर आया हूँ। तुम यहाँ दस आदमी छोड़

कर सबको साथ ले उनसे जा मिलो। खंदक छीनकर वहीं जब तक दूसरा हुक्म न मिले, डटे रहो। हम यहाँ रहेगा।"

"जो हुक्म।"

चुपचाप सब तैयार हो गए। बोधा भी कंबल उतारकर चलने लगा। तब लहनासिंह ने उसे रोका। लहनासिंह आगे हुआ तो बोधा के बाप सूबेदार ने उँगली से बोधा की ओर इशारा किया। लहनासिंह समझकर चुप हो गया। पीछे दस आदमी कौन रहें, इस पर बड़ी हुज्जत हुई। कोई रहना न चाहता था। समझा-बुझाकर सूबेदार ने मार्च किया। लपटन साहब लहना की सिगड़ी के पास मुँह फेरकर खड़े हो गए और जेब से सिगरेट निकाल कर सुलगाने लगे। दस मिनट बाद उन्होंने लहना की ओर हाथ बढ़ाकर कहा—

"लो, तुम भी पियो।"

आँख मारते-मारते लहनासिंह सब समझ गया। मुँह का भाव छिपा-कर बोला—"लाओ, साहब!" हाथ आगे करते ही उसने सिगड़ी के उजाले में साहब का मुँह देखा। बाल देखे। तब उसका माथा ठनका। लपटन साहब के पट्टियोंवाले बाल एक दिन में कहाँ उड़ गए और उनकी जगह क़ैदियों के से कटे हुए बाल कहाँ से आ गए?

शायद साहब शराब पिये हुए हैं और उन्हें बाल कटवाने का मौक़ा मिल गया है? लहनासिंह ने जाँचना चाहा। लपटन साहब पाँच वर्ष से उसकी रेजिमेंट में थे।

"क्यों साहब, हम लोग हिन्दुस्तान कब जायँगे?"

"लड़ाई ख़त्म होने पर। क्यों, क्या यह देश पसन्द नहीं?"

"नहीं साहब, शिकार के वे मज़े यहाँ कहाँ? याद है, पारसाल नकली लड़ाई के पीछे हम आप जगाधरी के ज़िले में शिकार करने गए थे?"—"हाँ हाँ—वही जब आप खोते पर सवार थे और आपका खानसामा अब्दुल्ला रास्ते के एक मंदिर में जल चढ़ाने को रह गया था?" "बेशक, पाजी कहीं का।"—"सामने से वह नीलगाय निकली कि ऐसी बड़ी मैंने कभी न

देखी थी । और आपकी एक गोली कंधे में लगी और पुट्ठे में निकली। ऐसे अफ़सर के साथ शिकार खेलने में मज़ा है । क्यों साहब, शिमले से तैयार होकर उस नीलगाय का सिर आ गया था न ? आपने कहा था कि रेजिमेंट की मैस में लगावेंगे।" "हो, पर मैंने वह विलायत भेज दिया"—"ऐसे बड़े-बड़े सींग ! दो दो फ़ुट के तो होंगे !"

"हाँ, लहनासिंह, दो फ़ुट चार इंच के थे। तुमने सिगरेट नहीं पिया?"

"पीता हूँ साहब, दियासलाई ले आता हूँ,"—कहकर लहनासिंह खंदक में घुसा। अब उसे संदेह नहीं रहा था। उसने झटपट निश्चय कर लिया कि क्या करना चाहिये ।

अँधेरे में किसी सोनेवाले से वह टकराया ।

"कौन ? वजीरासिंह ?"

"हाँ, क्यों लहना ? क्या क़यामत आ गई ? ज़रा तो आँख लगने दी होती ?"

४

"होश में आओ। क़यामत आई है और लपटन साहब की वर्दी पहनकर आई है।"

"क्या ?"

"लपटन साहब या तो मारे गए है या क़ैद हो गए हैं। उनकी वर्दी पहनकर यह कोई जर्मन आया है ! सूबेदार ने इसका मुँह नहीं देखा । मैंने देखा है और बातें की हैं। सौहरा (=ससुरा) साफ़ उर्दू बोलता है; पर किताबी उर्दू । और मुझे पीने को सिगरेट दिया है।"

"तो अब ?"

"अब मारे गए। धोखा है। सूबेदार कीचड़ में चक्कर काटते फिरेंगे और यहाँ खाई पर धावा होगा। उधर उन पर खुले में धावा होगा। उठो, एक काम करो । पलटन के पैरों के निशान देखते-देखते दौड़ जाओ। अभी बहुत दूर न गए होंगे। सूबेदार से कहो कि एकदम लौट आवें । खंदक की

बात झूठ है। चले जाओ, खंदक के पीछे से निकल जाओ। पत्ता तक न खुड़के। देर मत करो।"

"हुकुम तो यही है कि यहीं—"

"ऐसी तैसी हुकुम की! मेरा हुकुम—जमादार लहनासिंह जो इस वक्त यहाँ सबसे बड़ा अफ़सर है उसका हुकुम है। मैं लपटन साहब की ख़बर लेता हूँ।"

"पर यहाँ तो तुम आठ ही हो।"

"आठ नहीं, दस लाख। एक-एक अकालिया सिख सवा लाख के बराबर होता है। चले जाओ।"

लौटकर खाई के मुहाने पर लहनासिंह दीवार से चिपक गया। उसने देखा कि लपटन साहब ने जेब से बेल के बराबर तीन गोले निकाले। तीनों को जगह-जगह खंदक की दीवारों में घुसेड़ दिया और तीनों में एक तार-सा बाँध दिया। तार के आगे सूत की गुत्थी थी, जिसे सिगड़ी के पास रक्खा। बाहर की तरफ़ जाकर एक दियासलाई जलाकर गुत्थी पर रखने—

बिजली की तरह दोनों हाथों से उलटी बंदूक़ को उठाकर लहनासिंह ने साहब की कुहनी पर तानकर दे मारा। धमाके के साथ साहब के हाथ से दियासलाई गिर पड़ी। लहनासिंह ने एक कुंदा साहब की गर्दन पर मारा और साहब "आह! माई गाड!" कहते हुए चित्त हो गए! लहनासिंह ने तीनों गोले बीनकर खंदक के बाहर फेंके और साहब को घसीटकर सिगड़ी के पास लिटाया। जेबों की तलाशी ली। तीन-चार लिफ़ाफ़े और एक डायरी निकालकर उन्हें अपनी जेब के हवाले किया।

साहब की मूर्च्छा हटी। लहनासिंह हँसकर बोला—"क्यों लपटन साहब? मिजाज़ कैसा है? आज मैंने बहुत बातें सीखीं। यह सीखा कि सिख सिगरेट पीते हैं। यह सीखा कि जगाधरी के जिले में नील गायें होती हैं और उनके दो फुट चार इंच के सींग होते हैं। यह सीखा कि मुसलमान खानसामा मूर्त्तियों पर जल चढ़ाते हैं और लपटन साहब खोते पर चढ़ते हैं। पर यह

तो कहो, ऐसी साफ़ उर्दू कहाँ से सीख आए ? हमारे लपटन साहब तो बिना 'डैम' के पांच लफ़्ज़ भी नहीं बोला करते थे।"

लहना ने पतलून की जेबों की तलाशी नहीं ली थी। साहब ने, मानों जाड़े से बचाने के लिये, दोनों हाथ जेबों में डाले।

लहनासिंह कहता गया—"चालाक तो बड़े हो, पर माझे का लहना इतने बरस लपटन साहब के साथ रहा है। उसे चकमा देने के लिये चार आँखें चाहियें। तीन महीने हुए, एक तुरकी मौलवी मेरे गाँव में आया था। औरतों को बच्चे होने के तावीज बाँटता था और बच्चों को दवाई देता था। चौधरी के बड़ के नीचे मंजा बिछाकर हुक्का पीता रहता था और कहता था कि जर्मनीवाले बड़े पंडित हैं। वेद पढ़-पढ़कर उसमें से बिमान चलाने की विद्या जान गए हैं। गौ को नहीं मारते। हिन्दुस्तान में आ जायँगे तो गोहत्या बन्द कर देंगे। मण्डी के बनियों को बहकाया था कि डाकख़ाने से रुपये निकाल लो, सरकार का राज्य जानेवाला है। डाक-बाबू पोल्हूराम भी डर गया था। मैंने मुल्ला जी की दाढ़ी मूँड़ दी थी और गाँव के बाहर निकालकर कहा था कि जो मेरे गाँव में अब पैर रखा तो—"

साहब की जेब में से पिस्तौल चला और लहना की जाँघ में गोली लगी। इधर लहना की हैनरी मार्टिनी के दो फायरों ने साहब की कपालक्रिया कर दी। धड़ाका सुनकर सब दौड़ आए।

बोधा चिल्लाया—"क्या है ?"

लहनासिंह ने उसे तो यह कहकर सुला दिया कि "एक हड़का हुआ कुत्ता आया था, मार दिया।" और औरों से सब हाल कह दिया। बंदूकें लेकर सब तैयार हो गए। लहना ने साफ़ा फाड़कर घाव के दोनों तरफ़ पट्टियाँ कसकर बाँधीं। घाव मांस में ही था। पट्टियों के कसने से लहू निकलना बंद हो गया।

इतने में सत्तर जर्मन चिल्लाकर खाई में घुस पड़े। सिखों की बंदूकों की बाढ़ ने पहले धावे को रोका। दूसरे को रोका, पर यहाँ थे आठ (लहनासिंह

तक-तककर मार रहा था—वह खड़ा था, और, और लेटे हुए थे) और वे सत्तर । अपने मुर्दा भाइयों के शरीर पर चढ़कर जर्मन आगे घुसे आते थे । थोड़े से मिनटों में वे—

अचानक आवाज़ आई—"वाह गुरुजी की फ़तह ! वाह गुरुजी का खालसा !" और धड़ाधड़ बंदूक़ों के फ़ायर जर्मनी की पीठ पर पड़ने लगे । ऐन मौक़े पर जर्मन दो चक्की के पाटों के बीच आ गए । पीछे से सूबेदार हजारासिंह के जवान आग बरसाते थे और सामने लहनासिंह के साथियों के संगीन चल रहे थे । पास आने पर पीछेवालों ने भी संगीन पिरोना शुरू कर दिया ।

एक किलकारी और—"अकाल सिक्खा दी फौज आई ! वाह गुरुजी दी फ़तह ? वाह गुरुजी दा खालसा !! सत श्री-अकाल पुरुष !!!" और लड़ाई ख़तम हो गई । तिरसठ जर्मन या तो खेत रहे थे, या कराह रहे थे ? सिक्खों में पन्द्रह के प्राण गए । सूबेदार के दाहने कंधे में से गोली आर-पार निकल गई । लहनासिंह की पसली में एक गोली लगी । उसने घाव को ख़ंदक की गीली मिट्टी से पूर लिया और बाक़ी का साफ़ा कसकर कमरबंद की तरह लपेट लिया । किसी को ख़बर न हुई कि लहना के दूसरा घाव—भारी घाव—लगा है ।

लड़ाई के समय चाँद निकल आया था । ऐसा चाँद, जिसके प्रकाश से संस्कृत-कवियों का दिया हुआ 'क्षयी' नाम सार्थक होता है । और हवा ऐसी चल रही थी जैसी कि बाणभट्ट की भाषा में 'दंतवीणोपदेशाचार्य' कहलाती । वज़ीरासिंह कह रहा था कि कैसे मन-मन भर फ्रांस की भूमि मेरे बूटों से चिपक रही थी जब मैं दौड़ा-दौड़ा सूबेदार के पीछे गया था । सूबेदार लहनासिंह से सारा हाल सुन और काग़ज़ात पाकर, वे उसकी तुरत-बुद्धि को सराह रहे थे और कह रहे थे कि तू न होता तो आज सब मारे जाते ।

इस लड़ाई की आवाज़ तीन मील दाहिनी ओर की खाईवालों ने सुन ली थी । उन्होंने पीछे टेलीफ़ोन कर दिया था । वहाँ से झटपट दो डाक्टर और दो बीमार ढोने की गाड़ियाँ चलीं, जो कोई डेढ़ घंटे के अंदर-अंदर

आ पहुँची। फ़ील्ड-अस्पताल नज़दीक था। सुबह होते होते वहाँ पहुँच जायँगे, इसलिये मामूली पट्टी बाँधकर एक गाड़ी में घायल लिटाये गए और दूसरी में लाशें रखी गईं। सूबेदार ने लहनासिंह की जाँघ में पट्टी बँधवानी चाही। पर उसने यह कहकर टाल दिया कि थोड़ा घाव है, सबेरे देखा जायगा। बोधसिंह ज्वर में बर्रा रहा था। वह गाड़ी में लिटाया गया। लहना को छोड़कर सूबेदार जाते नहीं थे। यह देख लहना ने कहा—"तुम्हें बोधा की क़सम है और सूबेदार जी की सौगंद है जो इस गाड़ी में न चले जाओ।"

"और तुम?"

"मेरे लिये वहाँ पहुँचकर गाड़ी भेज देना। और जर्मन मुरदों के लिये भी तो गाड़ियाँ आती होंगी। मेरा हाल बुरा नहीं है। देखते नहीं, मैं खड़ा हूँ? वज़ीरासिंह मेरे पास है ही।"

"अच्छा, पर—"

बोधा गाड़ी पर लेट गया? भला। आप भी चढ़ जाओ। सुनिए तो, सूबेदारनी होराँ को चिट्ठी लिखो तो मेरा मत्था टेकना लिख देना। और जब घर जाओ तो कह देना कि मुझसे जो उन्होंने कहा था वह मैंने कर दिया।"

गाड़ियाँ चल पड़ी थीं। सूबेदार ने चढ़ते-चढ़ते लहना का हाथ पकड़-कर कहा—"तूने मेरे और बोधा के प्राण बचाए हैं। लिखना कैसा! साथ ही घर चलेंगे। अपनी सूबेदारनी को तू ही कह देना। उसने क्या कहा था?"

"अब आप गाड़ी पर चढ़ जाओ। मैंने जो कहा, वह लिख देना और कह भी देना।"

गाड़ी के जाते ही लहना लेट गया। "वज़ीरा, पानी पिला दे और मेरा कमरबन्द खोल दे। तर हो रहा है।"

५

मृत्यु के कुछ समय पहले स्मृति बहुत साफ़ हो जाती है। जन्म भर

की घटनाएँ एक-एक करके सामने आती हैं। सारे दृश्यों के रंग साफ़ होते हैं; समय की धुन्ध बिलकुल उन से हट जाती है।

× × ×

लहनासिंह बारह वर्ष का है। अमृतसर में मामा के यहाँ आया हुआ है। दहीवाले के यहाँ, सब्ज़ीवाले के यहाँ, हर कहीं, उसे एक आठ वर्ष की लड़की मिल जाती है। जब वह पूछता है कि तेरी कुड़माई हो गई, तब 'धत्' कहकर वह भाग जाती है। एक दिन उसने वैसे ही पूछा तो उसने कहा—"हाँ, कल हो गई, देखते नहीं यह रेशम के फूलोंवाला सालू ?" सुनते ही लहनासिंह को दुःख हुआ। क्रोध हुआ। क्यों हुआ ?

"वज़ीरासिंह, पानी पिला दे।"

पचीस वर्ष बीत गए। अब लहनासिंह नं० ७७ राइफ़ल्स में जमादार हो गया है। उस आठ वर्ष की कन्या का ध्यान ही न रहा। न मालूम वह कभी मिली थी, या नहीं। सात दिन की छुट्टी लेकर ज़मीन के मुक़द्दमे की पैरवी करने वह अपने घर गया। वहाँ रेजीमेंट के अफ़सर की चिट्ठी मिली कि फ़ौज लाम पर जाती है। फ़ौरन चले आओ। साथ ही सूबेदार हज़ारासिंह की चिट्ठी मिली कि मैं और बोधसिंह भी लाम पर जाते हैं। लौटते हुए हमारे घर होते जाना। साथ चलेंगे।

सूबेदार का गाँव रास्ते में पड़ता था और सूबेदार उसे बहुत चाहता था। लहनासिंह सूबेदार के यहाँ पहुँचा।

जब चलने लगे, तब सूबेदार बेड़े में से निकलकर आया। बोला—"लहना, सूबेदारनी तुमको जानती हैं। बुलाती हैं। जा, मिल आ।" लहनासिंह भीतर पहुँचा। सूबेदारनी मुझे जानती हैं; कब से ? रेज़ीमेंट के क्वार्टरों में तो कभी सूबेदार के घर के लोग रहे नहीं। दरवाज़े पर जाकर 'माथा टेकना' कहा। असीस सुनी। लहनासिंह चुप।

"मुझे पहचाना ?"

"नहीं।"

"तेरी कुड़माई हो गई ?—धत्—कल हो गई—देखते नहीं रेशमी बूटोंवाला सालू—अमृतसर में—"

घावों की टकराहट से मूर्च्छा खुली। करवट बदली। पसली का घाव बह निकला।

"वज़ीरा, पानी पिला,"—उसने कहा था।

स्वप्न चल रहा है। सूबेदारनी कह रही है—"मैंने तेरे को आते ही पहचान लिया। एक काम कहती हूँ। मेरे तो भाग फूट गए। सरकार ने बहादुरी का ख़िताब दिया है, लायलपुर में ज़मीन दी है, आज नमकहलाली का मौक़ा आया है, पर सरकार ने हम तीमियों (=स्त्रियों) की एक घँघरिया पलटन क्यों न बना दी, जो मैं भी सूबेदारजी के साथ चली जाती ? एक बेटा है। फौज में भर्ती हुए उसे एक ही वर्ष हुआ। उसके पीछे चार और हुए, पर एक भी नहीं जिया।" सूबेदारनी रोने लगी—"अब दोनों जाते हैं। मेरे भाग ! तुम्हें याद है, एक दिन टाँगेवाले का घोड़ा दहीवाले की दुकान के पास बिगड़ गया था। तुमने उस दिन मेरे प्राण बचाए थे। आप घोड़े की लातों में चले गए थे और मुझे उठाकर दुकान के तख़्ते पर खड़ा कर दिया था। ऐसे ही इन दोनों को बचाना। यह मेरी भिक्षा है। तुम्हारे आगे मैं आँचल पसारती हूँ।"

रोती-रोती सूबेदारनी ओबरी में चली गई। लहना भी आँसू पोंछता हुआ बाहर आया।

"वज़ीरासिंह, पानी पिला,"—उसने कहा था।

× × ×

लहना का सिर अपनी गोदी पर रखे वज़ीरासिंह बैठा है। जब माँगता है, तब पानी पिला देता है। आध घंटे तक लहना चुप रहा, फिर बोला—

"कौन ? कीरतिसिंह ?"

वज़ीरा ने कुछ समझकर कहा—"हाँ।"

"भइया, मुझे और ऊँचा कर ले। अपने पट्ट पर मेरा सिर रख ले।"

वज़ीरा ने वैसा ही किया।

"हाँ, अब ठीक है। पानी पिला दे। बस। अब के हाड़ (=आषाढ़) में यह आम खूब फलेगा। चाचा-भतीजे दोनों यहीं बैठकर आम खाना। जितना बड़ा तेरा भतीजा है उतना ही यह आम है। जिस महीने उसका जन्म हुआ था उसी महीने में मैंने इसे लगाया था।"

वज़ीरासिंह के आँसू टप्-टप् टपक रहे थे।

× × ×

कुछ दिन पीछे लोगों ने अख़बारों में पढ़ा—

फ्रांस और बेलजियम—६८ वीं सूची—मैदान में घावों से मरा—नं० ७७, सिख राइफ़ल्स, जमादार लहनासिंह।

पं० ज्वालादत्त शर्मा

शर्मा जी का जन्म सन् १८८८ ई० में हुआ। निवास-स्थान आपका किसरौल, मुरादाबाद है; किन्तु आजकल रहते आप बम्बई में हैं। आप हिन्दी के पुराने कहानी-लेखकों में हैं। आप उस समय लिखा करते थे, जिस समय हिन्दी में बहुत कम मौलिक कहानियाँ लिखी जाती थीं।

आपकी कहानियों का ढङ्ग वर्णनात्मक है। अपनी कहानियों में आपने हिन्दू-परिवार का सांस्कृतिक भित्ति पर आज के जीवन और उसकी समस्याओं के संघर्ष का अच्छा चित्रण किया है। आपकी भाषा सरल और कहानी के सर्वथा अनुरूप होती है। यद्यपि आजकल आपने लिखना छोड़ रक्खा है, किन्तु आपकी कतिपय कहानियाँ हिन्दी-कथा के विकास में अपना एक स्थान रखती हैं।

कहानी-लेखक

प्रयाग-विश्वविद्यालय के अंडरग्रेजुएट के लिये डाक्टरी या वकालत के सदृश समय और धन-सापेक्ष व्यवसायों के सिवा नौकरी में नायब तहसील-दारी वा सब-रजिस्ट्रारी के पद ही अधिक आकर्षण रखते हैं; पर उनकी प्राप्ति के लिये विद्या से बढ़कर सिफ़ारिश की ज़रूरत है। पिता के मित्र सूबे-दार नन्हेसिंह से जब मैं मिला, तब उन्होंने दुःख प्रकाश करते हुए कहा कि मैं इसी वर्ष अपने भतीजे की सिफ़ारिश कर चुका हूँ और परिमाण से अधिक सिफ़ारिश करके मैं अपने हाकिम का दिमाग़, अधिक भोजन से मेदे की तरह बिगाड़ना नहीं चाहता।

उनकी युक्ति-युक्त बात सुनकर मैंने कहा—ठीक।

ख़ाली समय में उपन्यास पढ़ने का चसका कालेज में ही पड़ चुका था। उन्हीं दिनों अमेरिका के एक पत्र में, जो चुभते हुए उपन्यास लिखने

में अपना जवाब नहीं रहता था, पढ़ा—कहानी लिखनेवालों का व्यवसाय आजकल ख़ूब चमक रहा है। जिसकी जैसी योग्यता होती है वह इस पेशे से उतना ही पैदा कर लेता है। योरप में कहानी-लेखक लाखों रुपया पैदा कर रहे हैं; और तरह के व्यवसायों में अनेक झंझट है। उनमें धन की आवश्यकता, उपकरण की आवश्यकता, मुनीमों और नौकरों की आवश्यकता और सबसे बढ़ कर मौक़े की जगह की आवश्यकता होती है। पर कहानी लिखनेवालों की मुलायम पेंसिल और व्यवसाय चमक जाने पर फ़ाउंटेन पेन और काग़ज़ के सिवा और किसी बाहरी उपकरण की आवश्यकता नहीं है। उसी लेख में, आगे चलकर, लिखा था कि फ्रांस के एक लेखक के पास आठ-दस क्वाँरी लड़कियाँ क्यों—युवतियाँ—नौकर हैं। वे अपने-अपने समय पर आती हैं और कहानी लिखनेवालों का वह आचार्य उनमें से हर एक को एक कहानी लिखवा देता है। इस तरह आठ-दस कहानियाँ लिखकर यह आठ-दस 'कहानी कहने वाले' पत्रों के पेट भरने के साथ-ही-साथ अपनी जेब भरता है।

उस पत्र में यह सब कुछ पढ़कर मैं सोचने लगा कि अब तक मैंने क्या इस ओर ध्यान नहीं दिया। उस समय मेरा मन अनेक तरह के विचारों के सागर में गोतें खाने लगा।

अवकाश के समय में पढ़े उपन्यासों की मनोहर छटाएँ अपनी-अपनी भाषा में 'तथास्तु' कहने लगीं। मैंने सोचा—घर बैठे का ऐसा अच्छा रोज़गार कि जिसमें मूलधन की कुछ भी ज़रूरत नहीं, मुझे तत्काल शुरू कर देना चाहिए। विक्टर ह्यूगो और रवीन्द्रनाथ का नाम स्मरण करके मैंने इरादा पक्का कर लिया।

उसी लेख में एक पुस्तक का उल्लेख था, जिसे फ्रांस के उसी कहानी लेखक ने कहानी-लेखन-कला पर लिखा था। मैंने उसे मँगाया। उसे पाकर मैंने समझा कि अब मैदान मार लिया। धर्म पुस्तक की तरह मैं उसका अध्ययन करने लगा। उसमें लिखा था कि कहानी लिखने का काम जितना मुश्किल है उतना ही आसान है। इस मुश्किल को उस चतुर लेखक ने इस

तरह आसान किया था। हर आदमी समाज में सबसे मिलता है। सुख-दुख के अवसरों पर सम्मिलित होता है। संसार के उतार-चढ़ाव देखता है, पर समझता कम है। और सच यह है कि समझने की कोशिश नहीं करता है। कहानी लिखने वाले को सबसे मिलना तो पड़ेगा ही, पर साथ-ही-साथ समझना भी पड़ेगा। उसे अपने आँख-कान के साथ दिल का दफ़्तर खोल कर चलना पड़ेगा। रास्ते में जहाँ जो मिलेगा उसे उठाकर ठीक जगह जमा करना पड़ेगा। दृष्टांत के तौर पर उसमें लिखा था—एक कहानी-लेखक ट्राम गाड़ी में जा रहे थे। उन्हीं के पास एक महिला बैठी हुई कोई चिट्ठी पढ़ रही थी। चिट्ठी पढ़ने के भाव और चिट्ठी की लिखावट को देखकर उस दिव्य ज्ञानी कहानी लेखक को मालूम हुआ कि इस जगह कहानी लिखने का कुछ मसाला मिल सकता है। झट उसने उस महिला से परिचय प्राप्त करके उस पर प्रकट कर दिया कि वह एक प्रसिद्ध जासूसी उपन्यास लेखक हैं। जटिल बातों में लोग उससे प्रायः परामर्श लेते हैं। महिला ने उसे घर बुलाया और पति की क्रूरता का वृत्तांत सुनाकर उससे परामर्श की भिक्षा मांगी। कहानी लेखक ने परामर्श दिया और बहुत सी उपहार सामग्री के साथ वह बढ़िया कहानी का प्लाट घर ले आया।

इसी पुस्तक में एक जगह लिखा था कि कहानी लेखक को एकांत स्थानों में प्रायः घूमना चाहिए। ऐसे स्थानों में घूमने से, जहाँ कल्पना शक्ति पर धार चढ़ती है, कभी कभी घटना के बीज भी, अनायास, मिल जाते हैं। इसके दृष्टांत में पुस्तक लेखक ने लिखा था कि अमेरिका का एक कहानी लेखक किसी नदी के एकांत तट पर घूम रहा था कि उसे दो प्रेमियों के पत्र व्यवहार का एक पुलिंदा मिल गया। उसकी सहायता से उसने एक नहीं अनेक कहानियाँ लिख डालीं।

उस पुस्तक में यह भी लिखा था कि संसार में घटनाओं की कमी नहीं। दैनिकपत्र घटनाओं के बोझ को सिर पर रखकर, प्रातःकाल ही, हर आदमी के स्थान पर थोड़े से खर्च में, पहुँच जाते हैं। चरित्रों की कमी नहीं, हर घर में, हर समाज में, अच्छे बुरे, ऊँचे नीचे और मिश्रित आचरणवाले

मनुष्य मौजूद हैं। वर्णनीय विषयों का भी अकाल नहीं। सब चीज़ें यथेष्ट परिमाण में मौजूद हैं। बस, लेखक की प्रतिभा उन सामयिक घटनाओं और सामने चलते-फिरते चरित्रों को मथकर चमत्कार-रूप मक्खन निकाल लेती है।

मैंने सोचा—घटनाओं के काल्पनिक डेरीफ़ार्म का चमत्कार-रूप मक्खन खूब ऊँचे दर पर बेचूँगा। उस समय घर की ग़रीबी को काफ़ूर होते बहुत देर न लगेगी।

उसी दिन से मैंने आँख-कान खोलकर घूमना शुरू कर दिया। घर-बाहर, बाज़ार, हाट, नदी-तट और रेलवे प्लेटफ़ार्म पर मैं प्रायः इसी उद्देश्य से घूमा करता था। कभी गाँव की कच्ची सड़क पर और कभी श्मशान में भी मैं चक्कर लगाया करता था। इन स्थानों पर घूमते समय मार्के की कोई बात दिखाई पड़ती, तो मैं उसे अपनी नोटबुक में टाँक लेता था। कहीं अधिक मोटा आदमी मिल गया तो उसका शाब्दिक फोटो खींच लिया। कहीं कोई झगड़ा हो गया, तो उसकी प्रश्नोत्तरी लिखली। किसी ने फबता हुआ कोई फ़िक़रा कह दिया कि मैंने उड़ा लिया।

महीने बीत गए; पर मानव-कुल के निरीक्षण का मेरा काम वैसा ही चलता रहा। एक दिन बूढ़ी माता ने हाथ का खड़ुआ मेरे सामने रखकर कहा—बेटा, इसे बाज़ार से बेच ला। घर में अन्न नहीं है।

माता का चेहरा ज़रा भी उदासीन न था। उसने कई बार मुझसे नौकरी करने के लिये कहा था; किंतु मैंने उसे समझा दिया कि मैं एक ऐसे ही काम के लिये तैयारी कर रहा हूँ। उस दिन से माता शांति से घर की चीज़ें बेचकर मुझे खिलाती रही। कभी मेरे काम में विघ्न न डाला। मेरी व्यस्तता को देख-कर वह बहुत प्रसन्न मालूम होती थी।

मैं प्रातःकाल होते ही घर से निकल जाता था। १० बजे लौटता था। भोजनोपरांत संसार के प्रसिद्ध उपन्यास-लेखकों के अँगरेज़ी अनुवाद पढ़ता था। फिर शाम को 'उपादान-संग्रह' के लिये बाहर निकलता था। रात को घर लौटकर दिन में जो कुछ देखता या सुनता था, अपनी कापी में लिख लेता था। उस दिन माता के धैर्य पर मैंने एक छोटा सा निबंध लिखा।

पुस्तक-लेखक ने लिखा था कि कहानी-लेखक को पहले निबंध लिखने का अभ्यास करना चाहिये। जो किसी घटना का जैसे का तैसा हाल और किसी विषय पर युक्ति-युक्त निबंध लिख सकता है वह समय पाकर अच्छा कहानी-लेखक हो सकता है।

मेरे मकान के पास एक डाक्टर रहते थे। वे पुराने हो गए थे, इसलिये अपनी ज़ंग लगी विद्या की छुरी को ग़रीबों की गर्दन पर तेज़ किया करते थे। उन्होंने मुझसे एक दिन पूछा—"विश्व बाबू, देखता हूँ, अब तुम्हारा स्वास्थ्य बहुत अच्छा है। रोज़ घूमने से तुम्हारा शरीर ख़ूब पुष्ट हो गया है।" फिर वे बड़ी निराशा-भरी दृष्टि से मुझे देखने लगे, मानो अजीर्ण रोगी मैं—इतना सस्ता—उनके हाथ से निकल गया! मैं यदि कहानी लिखने की तैयारी न करता होता तो उस बूढ़े डाक्टर की कोटरलीन आँखों को छेदकर उसके दिल तक की ख़बर न लाता। उसका धन्यवाद करके मैंने मन में कहा—ठहर जा, आज तेरे ही ऊपर अपने खाते में एक नोट जड़ूँगा, यदि कभी सुन लेगा तो सिर पीट डालेगा।

दूसरे दिन कहारी ने अपना महीना माँगा। मैं घर में था, इसलिये माता ने धीरे से उसे कल लेने के लिये कहा था। वह न मानी, चिल्लाने लगी। मैंने मन में कहा कि यदि वह मूर्ख कहारी मेरे वास्तविक रूप को पहचानती होती तो इस तरह झगड़ा न करती। अच्छा, आज इसकी कर्कशता का ही चित्र खींचूंगा। झगड़ ले और ख़ूब झगड़ ले। मैं भी तेरा श्राद्ध करने में कुछ कसर न छोड़ूँगा। वह बक-बक करती हुई चली गई। माँ को उस झगड़े से बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने धीरे से पूछा—बेटा, अब कब तक तू कमाने लगेगा?

माँ की बात से मेरी निद्रा टूट गई। मैंने सोचा, इस तरह काम नहीं चलेगा। जो कुछ लिख लिया है अब उसे बाज़ार में रखना चाहिये। इसमें संदेह नहीं कि यह संपत्ति अमूल्य है— "पर ख़रीदार की, देखें तो, नज़र कितनी है।"

दूसरे दिन शहर के दो-एक सम्पादकों से मैं मिला। मैंने उनसे अपनी

रुचि का प्रकाशन किया। वे सुनकर बड़े प्रसन्न हुए और कहने लगे कि आजकल साहित्याभिरुचि का पैदा होना बहुत ही कठिन है। आपकी प्रशंसा करते हैं कि ऐसे समय में आप साहित्य की श्रीवृद्धि करने के लिये अपने समय का इतना अच्छा उपयोग कर रहे हैं। फिर मैंने अपनी पुस्तक में से कुछ सुनाया। उसको सुनकर वे बड़े सहज भाव से मेरी चरित्र-विश्लेषण-शक्ति की प्रशंसा करने लगे। अंत में मैंने जब पुरस्कार का विषय उठाया तब तो उनके मुँह बेतरह बिगड़ गए। धूप खाये आम की तरह वे पिलपिला गए और कहने लगे—"महाशय, हिन्दी में पुरस्कार का नाम न लीजिए। 'नेकी कर कुवें में डाल' की बात है।" मैंने कहा—"तो साहित्य-सेवा से मैं पेट नहीं भर सकता।" उन्होंने कहा—"हाँ, अभी कुछ दिन नहीं। हमें ही देखिए, क्या मिलता है! किसी तरह पत्र चला रहे हैं।"

मैं वहाँ से चला आया। घर आकर फिर पुस्तक को पढ़ने लगा। उसमें लिखा था कि नये कहानी-लेखकों को ऐसे पत्र-सम्पादकों से बचना चाहिये जो पत्र मालिक भी हों। वे कैसा ही सड़ियल लेख हो, छाप देते हैं, यदि मुफ़्त मिलता है। दाम देकर लेख लिखाने की हिम्मत उनमें कम होती है। वे लोग अपना मतलब सिद्ध करने के लिये लेखक को दबाये रहते हैं। उसकी श्रेष्ठ रचना को भी साधारण बताते रहते हैं। कहीं असाधारण कहते ही लेखक के पंख न निकल आवें।

मैंने कहा—ठीक। फिर मैं दूने उत्साह से काम करने लगा। मैंने कहा—माल तैयार होने पर ग्राहक जुट ही जायँगे।

उस दिन मैं एक तालाब के पास बैठा हुआ शरत्-काल के लुभावने सायंकाल पर एक निबंध लिखने का अभ्यास कर रहा था। पास ही एक गोरा जल-मुर्ग़ाबियों का शिकार खेल रहा था। वैसे स्निग्ध और शांत समय में उसका वह तांडव-नृत्य मुझे बहुत ही बुरा मालूम होता था।

उसने एक मुर्ग़ाबी पर गोली चलाई। मुर्ग़ाबी लोट गई। वह उसे लेने के लिये तालाब में बढ़ा कि एक साथ गड़प! निस्सन्देह वह डूब रहा था। उसने मुझे पुकारा। मैं तत्काल दौड़कर उसके पास पहुँचा। मेरी धोती के

छोर को पकड़कर वह बाहर निकल आया। उसने मेरा धन्यवाद किया और पूछा—बाबू, तुम कुछ चाहता है?

मैंने कहा—साहब, प्रकृति के ऐसे मधुर समय में आप हिंसा-वृत्ति को चरितार्थ न करके यदि प्रकृति का निरीक्षण किया करें तो अच्छा है। बस; मैं आपसे यही चाहता हूँ और कुछ नहीं। सूर्यास्त की छटा को देखिए, तालाब के विजन दृश्य को देखिए, दूर तक फैले हुए मैदान को देखिए। इस समय ऐसा मालूम होता है कि मानों प्रकृति सब ओर से मन हटाकर अपना सौंदर्य-साधन कर रही है और आप उसके हलके आभूषणों पर गोली चलाकर उसका बना-बनाया काम बिगाड़ रहे हैं। साहब ने समझा था, मैं उससे कुछ रुपया या कोई नौकरी माँगूँगा। इसलिये मेरी बातें—और निश्चय ही निबंध में पहले ही लिखी जा चुकी बातें—सुनकर वह चकित हो गया। उसने मुस्कराते हुए कहा—बाबू, मालूम होता है, तुम कवि हो। मैंने कहा—हाँ साहब, एक तरह का।

उसने कहा—किस तरह का?

मैंने कहा—गद्य-कवि। बात यह है कि मैं कहानी-लेखक बनने की धुन में हूँ। उसमें गद्य-कविता करनी होती है—साहब।

मेरी बात सुनकर उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने पूछा—कहानी-लेखक बनने की धुन कैसी?

मैंने उसे अपना सब वृत्तांत सुनाया। साहब ख़ूब सहृदय था। बहुत से उपन्यासों को चाटे बैठा था। उस पुस्तक की बात सुनकर वह हो-हो! हो! करके हँसने लगा। उसने कहा—बाबू, उस पुस्तक में लिखी बातों पर चलकर तुम कहानी-लेखक बनना चाहते हो। ईश्वर के लिये इस ख़ब्त को छोड़ दो। क्यों अपना समय नष्ट करते हो! वह भी तो एक तरह का उपन्यास है।

मैंने कहा—नहीं महाशय, वह उपन्यास नहीं है। वह तो उपन्यास लिखने की कला पर एक प्रकरण-ग्रंथ है।

उसने हँस दिया। फिर अपनी जेब से नाम का कार्ड निकालकर मुझे

देते हुए उसने कहा—तुम कृपा करके मेरे स्थान पर आना, मैं तुमको वैसी अन्य पुस्तकें भी दिखा दूँगा। अच्छा, धन्यवाद बाबू—यह कहकर वह, घोड़े पर चढ़कर, चल दिया। मैंने कार्ड को पढ़ा। उस पर छपा था—

जे० रीड, (आई० सी० एस०)

कलक्टर और मजिस्ट्रेट।

अपने शहर के मजिस्ट्रेट की सहृदयता को और उससे भी बढ़कर सरलता को देखकर मैं मुग्ध हो गया।

दूसरे दिन मैं उनके बँगले पर गया। बड़ी अच्छी तरह मिले। बहुत देर तक बातचीत करते रहे। अपने पुस्तकालय की सैर कराई। अन्त में कहानी-लेखक बनाने के ख़ब्त को छोड़ने का फिर परामर्श दिया। मैंने अपनी सम्मति प्रकट की। उन्होंने उसी समय एक कागज़ लिखकर मेरे हाथ में दिया और कहा—कल से तुम नौकर हुए। ठीक समय पर कचहरी में आओ। मैं सलाम करके चला आया।

निश्चय ही साहब ने मुझे एक साथ ५०) मासिक की पेशकारी दे दी। जब माता ने यह समाचार सुना, उनकी प्रसन्नता के बाँध टूट गए।

हाँ, किस बुरी तरह वे घर का काम चलाती थीं और मैं कहानी-लेखक बनने की धुन में उनकी दुर्दशा का अनुभव तक न करता था। उन्होंने मेरी पीठ पर प्रेम का हाथ फेरते हुए कहा—"बेटा, तेरी मिहनत सफल हुई।"

उन्हें आज तक यही विश्वास है कि मैं उन दिनों नौकरी के लिये ही प्राणपण से उद्योग कर रहा था।

× × ×

जिस भाग्य-भगवान् की अनुकूलता से रीड साहब कलक्टरी से तरक्क़ी पाते हुए छोटे लाट हो गए, उसी की मन्द-मुस्कान और रीड साहब की सहायता से मैं भी कुछ वर्षों में डिप्टी-कलक्टर हो गया।

उन दिनों हमारे ज़िले में लाटसाहब पधारे थे। मैजिस्ट्रेट की कोठी

पर सबके सामने हँसते हुए उन्होंने मुझसे पूछा—विश्वनाथ, कहानी लिखने का ख़ब्त अभी छूटा या नहीं ?

मैंने नम्रता दिखाते हुए कहा—हुज़ूर, आपकी कृपा से मेरा जीवन स्वयं एक मनोहर कहानी बन गया है।

साहब ने तत्काल कहा—ओ यस !

पण्डित दयाशंकर दुबे

जन्म-संवत् १६५३ वि० । निवासी आप खँडवा (मध्य प्रदेश) के हैं, किन्तु रहते आजकल दारागंज, इलाहाबाद में हैं और प्रयाग विश्वविद्यालय में अर्थशास्त्र के प्रोफेसर हैं।

दुबे जी निर्विवाद रूप से ऐसे सर्वप्रथम लेखक हैं, जिन्होंने अर्थशास्त्र विषय का साहित्य लिखकर, सम्पादन करके तथा इस विषय के अन्य लेखकों को प्रोत्साहन तथा पथ-निर्देशन कर हिन्दी भाषा को गौरवान्वित किया है। हाल ही में आपने अर्थशास्त्र की रूप-रेखा' नामक एक विशालकाय ग्रन्थ लिखा है। डिमाई आठ-पेजी आकार के पाँच-सौ पृष्ठों में यह पूर्ण हुआ है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह संपूर्ण ग्रन्थ कथोपकथन तथा कहानी के ढङ्ग से लिखा गया है। भारत की साधारण जनता में अर्थशास्त्र जैसे उपयोगी विषय का ज्ञान पहुँचाने का यह प्रयत्न वास्तव में स्तुत्य है। इसके कुछ अध्यायों में कहानी के टेकनीक का भी अच्छा निर्वाह हुआ है। कला को अगर उपयोगिता की दृष्टि से देखा जाय तो यह रचना उसकी सफलता का एक अच्छा उदाहरण है।

क्रय-विक्रय का आदर्श

"देखो मोहन, वह वृद्ध आदमी जो धीरे-धीरे टहलता हुआ जा रहा है, जानते हो, कौन है ?"

चाचा ने मोहन से पूछा।

मोहन ने जवाब दिया—मैं तो नहीं जानता, चाचा। पर क्या ये महाशय कोई ऐसी विशेषता रखते हैं, जिसके जानने की मुझे आवश्यकता हो ?

चाचा—ये हमारे नगर के गौरव हैं। कलकत्ता और बम्बई जैसे नगरों में इनकी बड़ी-बड़ी दुकानें हैं।

मोहन—इससे क्या ? दूकानें तो ऐसे सैकड़ों आदमियों की हो सकती हैं। लक्ष्मी ऐसी वस्तु है कि जिसके पास होती है, उसमें गुण-ही-गुण देख पड़ते हैं। सारे अवगुण उसके छिप जाते हैं। कोई ऐसी बात बताइए, जिससे इनकी महानता पर प्रकाश पड़े।

चाचा—तो फिर सुनो। अब इनकी अवस्था सत्तर वर्ष से ऊपर है। लेकिन जब ये चौदह वर्ष के थे, तो मंगलपुर से कानपुर भाग आए थे। कहते हैं, उस समय इनके पास फूटी कौड़ी भी न थी। साथ में केवल एक लोटा-डोर था। ओढ़ने और बिछाने तक के लिये इनके पास कपड़े न थे।

मोहन ने आश्चर्य से कहा—अच्छा!

चाचा—हाँ, तभी तो मैंने पहले ही कहा था, ये हमारे नगर के गौरव हैं।

मोहन—किन्तु यह तो केवल आर्थिक दृष्टि से उन्नति करने की बात हुई।

चाचा—पर आर्थिक दृष्टि से उन्नति करना कोई मामूली बात नहीं है। जो व्यक्ति अपनी ईमानदारी, मेहनत और असाधारण प्रतिभा की बदौलत इतनी उन्नति कर सकता है, अवश्य ही वह हमारी प्रशंसा का पात्र है।

मोहन—अच्छा तो बतलाइए। मैं अब बीच में नहीं बोलूँगा।

चाचा—सबसे पहले इन्होंने एक हलवाई की दूकान पर कढ़ाई आदि बर्तन मलने का काम किया। दिनभर सबेरे से लेकर रात के ग्यारह बजे तक ये उस दूकान पर काम करते थे और रात को जब दूकान बन्द हो जाती, तो उसी पर सो जाते। बिछौने के स्थान पर दूकान की पक्की जमीन होती और तकिया के स्थान पर इनके हाथ। खाने को दूकान से जो कुछ मिल जाता, उसी पर संतोष कर लेते। महीनों खाने को रोटी नहीं मिली। कभी बासी ठण्ढे पराठे, कभी पूरी अथवा बची-खुची मिठाइयों के टुकड़े-मात्र इनका भोजन रहता था। कहते हैं, प्रारम्भ के उन दिनों कभी ऐसा नहीं हुआ कि भोजन से इन्हें तृप्ति मिली हो। देहात से आते समय जो शरीर यथेष्ट तन्दुरुस्त था, आग, धुएँ, मक्खियों, कीड़ों तथा बर्रों से घिरे और रात-दिन के काम से लथ-पथ, पसीने से तर रहकर काम में पिसते

रहने के कारण वह अब क्षीण हो चला था। माता-पिता नहीं थे, भाई भी कोई नहीं था। काम से इतनी भी छुट्टी नहीं मिलती थी कि कहीं घड़ी-दो घड़ी के लिये टहल ही आते। दूकान से भाग जाने को जी होता था। लेकिन जब ख्याल आ जाता कि गाँव में तो रोटी का एक टुकड़ा भी देनेवाला कोई नहीं, तो मन मसोसकर रह जाते। कोई भी तो ऐसा नहीं था, जिससे अपना दुख कहते। कभी-कभी रात में नींद नहीं आती थी। गाँव के ही स्वप्न देखते रहते। बचपन याद आता, साथ के अवारा लड़के याद आते और माता-पिता का प्यार याद आता। घंटों रोते रहते।

एक दिन की बात है, एक और पड़ोसी दूकानदार ने इनको रात के बारह बजे इसी दशा में देख लिया। उसके हृदय में दया थी, धर्म था। उसने पूछा—"आज इतनी रात को सोने के बजाय रोते क्यों हो, रामधन?" पर रामधन हिचकियाँ ले-लेकर रो रहा था। कोई जवाब वह उस समय कैसे देता?

आगन्तुक ने फिर पूछा—"आख़िर बात क्या है, रामधन? कुछ तो बताओ?"

रामधन ने तब अपना सारा दुख-सुख उस दूकानदार से कह दिया। इसका फल यह हुआ कि दूसरे दिन से उसे हलवाई की दूकान छोड़कर इस दूकानदार के यहाँ नौकरी मिल गई।

अब रामधन को पहले की अपेक्षा कुछ आराम था। यह दूकान किसी एक चीज़ की नहीं, बल्कि बहुतेरी चीज़ों की थी। पेटेंट साबुन, तेल, कंघा, क़ैंची, ब्रश, टुथपेस्ट, बच्चों के तरह-तरह के खिलौने, छड़ियाँ, छाते, मोजा, चाय के सेट्स, क़लम, दवात, स्याही, लालटेन, शीशे के गिलास, बूट की पालिश, फ़ीते—तात्पर्य यह कि दैनिक व्यवहार में आनेवाली सैकड़ों वस्तुओं की वह दूकान थी। एक शब्द में कहूँ, तो कहना होगा कि उसके दूकान मालिक जनरल मर्चेण्ट थे।

यहाँ रामधन को केवल अधपेट भोजन नहीं, वरन् नक़द दस रुपये मिलते थे। खाने के लिये दूकानदार ने एक होटल में प्रबन्ध कर दिया था।

बल्क, ज़रूरत रामधन उस होटलवाले की भी कुछ सेवा कर देता और इस कारण वह रामधन से भोजन का लागत-मात्र (पाँच रुपये) ही ले लेता था। दूकान पर उसे सबेरे दस बजे से रात के नौ बजे तक रहना पड़ता। अब वह खुली हवा में साँस ले सकता था, घूम सकता था, और अपने भविष्य के सम्बन्ध में सोच सकता था। कभी-कभी होटल में आने-वाले बाबुओं से उसे कुछ पैसे भी इनाम के रूप में मिल जाते थे। और इस तरह चार-पाँच रुपये महीने वह बराबर बचा लेता था।

किन्तु रामधन का अब तक का यह जीवन ऐसा था, जिसे हम अपने पैरों खड़ा होने योग्य बनने का पहला क़दम कह सकते हैं। इस दशा में रामधन ने केवल तीन वर्ष नौकरी की। अब उसके पास लगभग दो सौ रुपये हो गए थे। रात-दिन वह यह सोचा करता था कि क्या कभी कोई ऐसा दिन भी होगा, जब इसी तरह की एक दूकान उसकी भी होगी। काम करते-करते वह इसी तरह के स्वप्न देखा करता।

रामधन सेवा-कार्य में बड़ा निपुण था। दूकान पर उसके सिपुर्द जो कुछ काम था, उसे तो वह पूरा करता ही था। साथ ही दूकानदार लाला जगतनारायण के घर पर अकसर चला जाता और जगत बाबू के घर के अन्दर जाकर गृहस्थी-सम्बन्धी आवश्यक सामान भी ले आता। इसका फल यह हुआ कि धीरे-धीरे वह लाला जी के परिवार का एक विश्वास-पात्र नौकर हो गया।

रामधन चाहता, तो एक छोटी-मोटी दूकान अब भी कर सकता था। पर उसके सामने एक बड़ी कठिनाई यह थी कि वह पढ़ा-लिखा क़तई न था और उमर अब उसकी अठारह वर्ष की हो गई थी। तो भी प्रायः वह सोचा करता, क्या कोई ऐसा दिन होगा, जब मैं इतना पढ़ जाऊँगा कि इसी तरह की दूकानदारी कर सकूँगा! चीज़ों के नाम वह जान गया था। कहाँ से कौन माल किस भाव आता है, इनका ज्ञान धीरे-धीरे उसे हो चला था। किन्तु पत्र-व्यवहार करने की योग्यता भी तो उसे होनी चाहिये थी।

एक दिन की बात है, जगत बाबू खाना खाने के लिये घर गए हुए थे

ज्योंही लौटे, तो देखते क्या हैं, रामधन एक स्लेट पर कुछ लिख रहा है। किन्तु ज्योंही उनकी निगाह उस पर पड़ी, त्योंहीं रामधन ने स्लेट की रेखाएँ मेट दीं। तब दूकान पर बैठते ही उन्होंने सब से पहले वह स्लेट देखी, जिसमें कुछ टेढ़े मेढ़े अक्षर ग म र स के रूप में बने हुए थे। जब तक दूकानदारी का समय रहा, तब तक तो वे काम में लगे रहे। पर ज्योंही दूकान बढ़ाने की बेला आई, जगत बाबू ने रामधन से पूछा—"दूकान बढ़ाकर तुम घर पर अपना जो वक्त बरबाद करते हो, क्यों न उसको रात्रि-पाठशाला में बिताओ? अभी पढ़ लोगे तो बहुत अच्छा होगा।"

बस फिर क्या था, रामधन रात्रि-पाठशाला में पढ़ने लगा।

इसी तरह दो साल और बीत गए। अब रामधन को वेतन में १२) मिलते थे। ७) महीने की बचत वह अब उससे बराबर कर ही रहा था। इस तरह कुल मिलाकर अब उसके पास लगभग पाँच सौ रुपये हो गए थे, जो सेविंग बैंक में उसी के नाम से जमा थे।

उन्हीं दिनों जगत बाबू का एक मकान बन रहा था और उस मकान में उनका सारा रुपया लग चुका था। जाड़े के दिन थे, माल क़रीब-क़रीब चुक गया था, और नया माल मँगाने के लिये अब उनके पास और रुपये नहीं रह गए थे। सोच-विचार में बैठे-बैठे वे इतने उदास थे कि चिन्ताभाव उनकी मुद्रा से स्पष्ट झलकता था। दूकान बढ़ाकर जब वे घर चलने लगे, तो रामधन ने पूछा—"बाबू जी, अगर आप मुझे माफ़ कर दें, तो मैं एक बात पूछूँ? आप आज किसी चिन्ता में डूबे हुए जान पड़ते हैं।"

जगत बाबू—लेकिन तुम उस चिन्ता को दूर नहीं कर सकते।

रामधन—लेकिन बाबू, कुछ मालूम भी तो हो। मैंने आपका बहुत नमक खाया है। अगर किसी काम आ सकूँ, तो आप मुझे उसके मौक़े से दूर क्यों रखते हैं?

जगत बाबू—कुछ रुपये की ज़रूरत आ पड़ी है। दूकान में माल इस क़दर कम है कि अगर एक हज़ार रुपये का और इन्तज़ाम न हुआ, तो दूकान उठा देनी पड़ेगी। उसके बाद क्या होगा, यही सोचता हूँ। चाहूँ

तो मकान के आधार पर क़र्ज़ मिल सकता है। पर यह बात है कितनी बेइ-ज़्ज़ती की कि मकान पूरा बन भी न पावे और उसे गिरवी रखने की नौबत आ जाय! घर में ज़ेवर मुश्किल से दो हज़ार का होगा। बीबी से उसे उतरवाता हूँ तो घर की शान्ति भङ्ग होती है। क्या करूँ, क्या न करूँ, कुछ समझ में नहीं आता, रामधन। ऐसा जान पड़ता है, यह मकान मुझे खा जायगा!

रामधन से अब और सहन न हुआ। झट से वह बोल उठा—"आपकी पूरी सेवा के लायक़ तो मैं अभी नहीं हुआ, लेकिन पाँच सौ रुपये तो जमा कर ही लिए हैं। आप चाहें, तो कल ही निकाल लूँ।"

जगत बाबू इस बात को सुनकर उछल पड़े। बोले—"अच्छी बात है! रुपये तुम कल उठा लो। रह गए पाँच सौ, सो इतने का प्रबन्ध मैं किसी तरह कर लूँगा।"

दूसरे दिन रामधन ने ५००) निकालकर जगत बाबू के हाथ पर रख दिए। उधर जगत बाबू ने पाँच सौ रुपया बैंक से क़र्ज़ ले लिया। इस तरह फ़सल के समय की उनकी आवश्यकता की पूर्ति हो गई।

यह सब तो हुआ, लेकिन रामधन की इच्छा अभी पूरी नहीं हुई थी। तीन महीने बाद जगत बाबू ने कह दिया था, जिस दिन तुम्हें रुपये की ज़रूरत हो, कह देना—रुपया तैयार है।

रामधन ने कह दिया—"वह तो आप ही का है। मुझे उसकी कोई ज़रूरत नहीं है।"

धीरे-धीरे साल का आख़ीर आया और हानि-लाभ का चिट्ठा बनने लगा। रामधन दिन भर अपने काम में लगा रहता। वह देखता रहता, कौन माल कहाँ से—किस भाव से—आता है। धीरे-धीरे वह अब चिट्ठियाँ पढ़ने लगा था। अक्षर उसके सुन्दर नहीं बनते थे, तो भी शुद्ध-शुद्ध वह लिख तो सकता ही था। अन्त में जब खाता नया बनाया गया और बही का पूजन हो गया, तो जगत बाबू ने रामधन से कहा—"एक ख़ुशख़बरी तुमको सुनाता हूँ, रामधन।"

रामधन ने पूछा—"बताइए।"

जगत बाबू बोले—"मेरी गृहिणी ने कल रात में कहा था—रामधन का रुपया बहुत फलता है। इस साल जितना लाभ हुआ उतना कभी नहीं हुआ था। इससे तो अच्छा है, दूकान में उसका एक आने का हिस्सा कर दिया जाय। सो इस साल की जो आमदनी हुई है, उसमें तुम्हारे हिस्से की रक़म दो सौ के लगभग होती है। पाँच सौ तुम्हारी जो पूँजी है, वह इससे अलग है। कुल मिलाकर ७००) होते हैं। ये रुपये या तो तुम मुझसे कल ले लो, या दूकान के हिस्से के रूप में जमा रक्खो।"

मोहन इसी समय बोल उठा—"उस दिन से रामधन जगत बाबू की दूकान में एक आने का हिस्सेदार हो गया।"

चाचा—लेकिन रामधन की उन्नति का यह इतिहास तो अभी प्रारम्भ का ही है। इसके बाद जो उसका असली विकास हुआ, उसकी कथा भी कम रोचक नहीं है। सृष्टि का यह चक्र बड़ा विचित्र है। किसके उत्थान के साथ किसका पतन मिश्रित है, संलग्न है, कोई नहीं जानता। जगत बाबू एक दिन इस असार संसार को छोड़कर चलते बने। और तब रह गए उनके वे बच्चे, जो अभी पढ़ ही रहे थे। दुख-सुख तो जीवन के साथ लगे हैं, किन्तु काल-चक्र तो अपनी गति से चलता ही रहता है। जगत बाबू को मनुष्य की पहचान थी, वे रामधन की विकासशील प्रतिभा और ईमानदारी से परिचित थे। परन्तु उनके देहावसान के बाद, उनके बड़े लड़के, जो यूनिवर्सिटी में पढ़ रहे थे, रामधन से परिचित न थे। कुछ आवारा दोस्तों ने उनके कान भर दिए। और उसका फल यह हुआ कि रामधन को उसका हिस्सा देकर उन्होंने उसे दूकान से अलग कर दिया।

यह सब कुछ हुआ, किन्तु रामधन के हृदय में कोई अन्तर नहीं आया था। दूकान से अलग होकर उसने अलग दूकान तो कर ली, पर जगत बाबू के परिवार के प्रति उसकी श्रद्धा का भाव अब भी कम नहीं हुआ था।

उधर जगत बाबू की दूकान पर जो दूसरा आदमी रक्खा गया, वह पूरा खाऊ था। उसकी नीयत अच्छी नहीं थी। अतः उसका नतीजा यह हुआ

कि वह दूकान टूट गई।

मोहन—किन्तु रामधन की दूकान तो तब और भी उन्नति पर रही होगी।

चाचा—उसकी दूकानदारी जो बराबर उन्नति करती गई, उसका एक रहस्य था।

मोहन—वह क्या?

चाचा—बात यह है कि उसने कभी भी अपने ग्राहकों को ठगने का प्रयत्न नहीं किया। ईमानदारी से काम करना ही उसकी सफलता की कुञ्जी थी। कभी-कभी वस्तुओं के दाम अनाप-शनाप बढ़ जाया करते हैं। दूकान-दारों को यह मौक़ा रहता है कि वे चाहें तो समय के अनुसार कुछ अधिक रुपया लाभ-रूप में पैदा कर लें, और चाहे अपनी दूकान की साख और भी अधिक बैठा लें।

मोहन—लेकिन जब वस्तुओं का दाम बढ़ गया हो, तब उन बढ़ी हुई क़ीमतों पर माल न बेचना भी कोई बुद्धिमानी तो है नहीं।

चाचा—बात यह कि वस्तुओं का मूल्य बढ़ जाने पर भी जो दूकान-दार उनका अधिक मूल्य नहीं बढ़ाता, थोड़ा ही लाभ लेकर संतोष कर लेता है, उसके ग्राहकों की संख्या अधिक बढ़ जाती है। और दूकानदारी का यह एक नियम-सा है कि जो ग्राहक एक बार जम जाते हैं, वे बिना विशेष कारण के जल्दी नहीं उखड़ते। रामधन ने ऐसा ही किया। एक तो उसने अन्य दूकानदारों की अपेक्षा वस्तुओं का मूल्य अधिक नहीं बढ़ाया, दूसरे बढ़ी हुई क़ीमतों से होनेवाले लाभ की रक़म को विशेष कोष-रूप में जमा रक्खा।

मोहन—एक ही बात हुई। चाहे उस रक़म को हम अपने स्थायी कोष में जमा कर लें, चाहे उसे अलग रहने दें। जो रुपया एक बार अपना हो चुका, वह हो चुका। उसका उपयोग तो आदमी समय आने पर करेगा ही।

चाचा—एक दृष्टि से तुम्हारा यह कहना ठीक है। पर प्रायः होता

यह है कि लोग अत्यधिक लाभ से होनेवाली रक़म को अपने निजी उपभोग में ले आते हैं। किन्तु रामधन ने ऐसा नहीं किया। उसने उस रक़म को वस्तुओं का मूल्य घटने के संकट-काल के लिये सुरक्षित रक्खा।

मोहन—अच्छा, फिर।

चाचा—उसकी दूकान इस बात के लिये भी प्रसिद्ध थी कि एक तो उसमें माल विशुद्ध और नया मिलता है, दूसरे भाव-ताव करने की आवश्यकता नहीं पड़ती, सब वस्तुओं का दाम निश्चित है। कोई भी व्यक्ति, चाहे वह बच्चा ही हो, चला जाय, दामों में कोई अन्तर न होगा।

मोहन—अच्छा, माना कि एक विशेष कोष के सम्बन्ध में उसने एक नया प्रयोग किया। लेकिन इसका परिणाम आख़िर क्या हुआ ?

चाचा—परिणाम यह हुआ कि कुछ वर्षों के बाद जब वस्तुओं का मूल्य बराबर घटने लगा, तब उसके समान कुछ अन्य व्यवसायी तो घाटे में आकर समाप्त हो गए, किन्तु रामधन के व्यवसाय पर उसका कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा।

मोहन—अच्छा ठीक है। किन्तु यह प्रयोग उसे सूझा किस तरह ?

चाचा—बात यह है कि रामधन अब इतना समर्थ हो गया था कि अर्थशास्त्र की बारीक बातों के मर्म को समझ सकता। उसका अध्ययन बराबर जारी था। एक बार उसने किसी अर्थशास्त्री से वार्तालाप में क्रय-विक्रय के आदर्श के सम्बन्ध में बहुतेरी बातें जान ली थीं। अवसर आने पर उसने उनका प्रयोग किया और उसे सफलता मिली। और इस तरह ये रामधन उन्नति करते-करते आज दिन ऐसी ऊँची हैसियत को पहुँच गए हैं।

मोहन—तो क्रय-विक्रय का आदर्श आप यही मानते हैं न, कि लाभ थोड़ा लिया जाय; ताकि विक्रय का परिमाण बढ़ता रहे ? वस्तु का मूल्य बढ़ जाने पर लाभ के एक अंश को विशेष कोष के रूप में संचित रक्खा जाय, जो उस समय काम आवे, जब वस्तुओं का मूल्य घट रहा हो। वस्तुएँ विशुद्ध और नयी दी जायँ और सबके लिये दाम एक हो।

चाचा—हाँ बस, सार रूप में तो यही है।

चाचा-भतीजे ये बातें करते हुए जिस समय घूमकर लौट रहे थे उसी समय रामधन भी उधर से आ निकले।

मोहन सोचने लगा—मनुष्य धूल-भरा हीरा है। कौन जानता था कि एक अनाथ बालक एक दिन इतना बड़ा आदमी बन जायगा!

श्री प्रेमचन्द

आपका जन्म विक्रमी संवत् १९३७ और निधन विक्रमी संवत् १९९३ में हुआ था। आपकी जन्मभूमि मढ़वा (काशी) थी। पहले आप संयुक्त-प्रांत में शिक्षा-विभाग के स्कूलों में निरीक्षक थे। परन्तु फिर असहयोग आन्दोलन में आपने सरकारी नौकरी छोड़ दी थी और आप स्वतन्त्र रूप से साहित्यिक जीवन बिता रहे थे।

आपके ग्रन्थों में 'रंगभूमि', 'कायाकल्प', 'सेवा-सदन' तथा 'गोदान' आदि उपन्यास बहुत प्रसिद्ध हैं। आपकी कहानियों के भी कई संग्रह 'प्रेम-द्वादशी', 'प्रेम-प्रसून', 'प्रेम-पचीसी' आदि नामों से निकल चुके हैं। आपकी कथाओं में ग्रामीण जीवन का अच्छा चित्रण हुआ है।

आप आदर्शवादी कलाकार हैं। आपका मत है—कला जीवन के लिये है न कि केवल कला के लिये। इस प्रकार आप केवल कहानी-लेखक के रूप में ही हमारे सामने नहीं आते हैं, वरन् एक समाज-सुधारक, एक युग-निर्माता के रूप में भी प्रतिष्ठित होते हैं।

हिन्दी कथा-साहित्य में एक आप ही ऐसे तत्वदर्शी कलाकार हुए हैं, जिनको अन्तर्राष्ट्रीय यश प्राप्त होने का सौभाग्य प्राप्त है और जो निर्विवाद रूप से भारतीय कथा-साहित्य के प्रतिनिधि माने गए हैं।

शतरंज के खिलाड़ी

वाजिदअली शाह का समय था। लखनऊ विलासिता के रंग में डूबा हुआ था। छोटे-बड़े, अमीर-ग़रीब, सभी विलासिता में डूबे हुए थे। कोई नृत्य और गान की मजलिस सजाता था, तो कोई अफ़ीम की पीनक ही के मज़े लेता था। जीवन के प्रत्येक विभाग में आमोद-प्रमोद का प्राधान्य था।

शासन विभाग में, साहित्य-क्षेत्र में, सामाजिक व्यवस्था में, कला-कौशल में, उद्योग-धन्धों में, आहार-व्यवहार में, सर्वत्र विलासिता व्याप्त हो रही थी। राजकर्मचारी विषय-वासना में, कविगण प्रेम और विरह के वर्णन में, कारीगर कलाबत्तू और चिकन बनाने में, व्यवसायी सुरमे, इत्र-मिस्सी और उबटन का रोज़गार करने में लिप्त थे। सभी की आँखों में विलासिता का मद छाया हुआ था। संसार में क्या हो रहा है, इसकी किसी को ख़बर न थी। बटेर लड़ रहे हैं। तीतरों की लड़ाई के लिये पाली बदी जा रही है। कहीं चौसर बिछी हुई है; पौ-बारह का शोर मचा हुआ है। कहीं शतरंज का घोर-संग्राम छिड़ा हुआ है। राजा से लेकर रङ्क तक इसी धुन में मस्त थे। यहाँ तक कि फ़क़ीरों को पैसे मिलते, तो वे रोटियाँ न लेकर अफ़ीम खाते या मदक पीते। शतरंज, ताश, गंजीफ़ा खेलने से बुद्धि तीव्र होती है, विचार-शक्ति का विकास होता है, पेचीदा मसलों को सुलझाने की आदत पड़ती है, ये दलीलें ज़ोर के साथ पेश की जाती थीं। (इस सम्प्रदाय के लोगों से दुनिया अब भी ख़ाली नहीं है।) इसलिये अगर मिर्ज़ा सज्जादअली और रौशनअली अपना अधिकांश समय बुद्धि तीव्र करने में व्यतीत करते थे, तो किसी विचारशील पुरुष को क्या आपत्ति हो सकती थी! दोनों के पास मौरूसी जागीरें थीं, जीविका की कोई चिन्ता न थी; घर में बैठे चखौतियाँ करते थे। आख़िर और करते ही क्या? प्रातःकाल दोनों मित्र नाश्ता करके बिसात बिछाकर बैठ जाते, मुहरे सज जाते और लड़ाई के दाँव-पेच होने लगते। फिर ख़बर न होती थी कि कब दोपहर हुई, कब तीसरा पहर, कब शाम। घर के भीतर से बार-बार बुलावा आता—"खाना तैयार है।" यहाँ से जवाब मिलता—"चलो, आते हैं; दस्तरख़्वान बिछाओ।" यहाँ तक कि बावरची विवश होकर कमरे ही में खाना रख जाता था, और दोनों मित्र दोनों काम साथ-साथ करते थे। मिर्ज़ा सज्जादअली के घर में कोई बड़ा-बूढ़ा न था, इसलिये उन्हीं के दीवानख़ाने में बाज़ियाँ होती थीं। मगर यह बात न थी, मिर्ज़ा के घर के और लोग उनके इस व्यवहार से ख़ुश हों। घरवालों का तो कहना ही क्या, महल्लेवाले, घर के

नौकर-चाकर तक नित्य द्वेष-पूर्ण टिप्पणियाँ किया करते थे—"बड़ा मनहूस खेल है। घर को तबाह कर देता है। ख़ुदा न करे, किसी को इसकी चाट पड़े। आदमी दीन-दुनिया, किसी के काम का नहीं रहता, न घर का न घाट का। बुरा रोग है।" यहाँ तक कि मिर्ज़ा की बेगम साहबा को इससे इतना द्वेष था कि अवसर खोज-खोज कर पति को लताड़ती थीं। पर उन्हें इसका अवसर मुश्किल से मिलता था। वह सोती ही रहती थीं, तब तक उधर बाज़ी बिछ जाती थी। और रात को जब सो जाती थीं, तब कहीं मिर्ज़ा जी भीतर आते थे। हाँ, नौकर पर वह अपना ग़ुस्सा उतारती रहती थीं—क्या पान माँगे हैं? कह दो, आकर ले जाँय। खाने की भी फ़ुरसत नहीं! ले जाकर खाना सिर पर पटक दो, खायँ चाहे कुत्ते को खिलावें।" पर रू-ब-रू वह भी कुछ न कह सकती थीं उनको अपने पति से उतना मलाल न था, जितना मीर साहब से। उन्होंने उनका नाम मीर बिगाड़ू रख छोड़ा था। शायद मिर्ज़ा जी अपनी सफ़ाई देने के लिये सारा इल्ज़ाम मीर-साहब ही के सिर थोप देते थे।

एक दिन बेगम साहबा के सिर में दर्द होने लगा। उन्होंने लौंडी से कहा—"जाकर मिर्ज़ा साहब को बुला ला। किसी हकीम के यहाँ से दवा लावें। दौड़, जल्दी कर।" लौंडी गई तो मिर्ज़ा जी ने कहा—"चल, अभी आते हैं।" बेगम साहबा का मिज़ाज गरम था। इतनी ताब कहाँ कि उनके सिर में दर्द हो, और पति शतरंज खेलता रहे। चेहरा सुर्ख़ हो गया। लौंडी से कहा—"जाकर कह, अभी चलिए, नहीं तो वह आप ही हकीम के यहाँ चली जायँगी।" मिर्ज़ा जी बड़ी दिलचस्प बाजी खेल रहे थे; दो ही किश्तों में मीरसाहब को मात हुई जाती थी। झुँझलाकर बोले—"क्या ऐसा दम लबों पर है? ज़रा सब्र नहीं होता!"

मीर—अरे तो जाकर सुन ही आइए न। औरतें नाज़ुक-मिज़ाज होती ही हैं।

मिर्ज़ा—जी हाँ, चला क्यों न जाऊँ! दो किश्तों में आपको मात होती है।

मीर—जनाब, इस भरोसे न रहिएगा। वह चाल सोची है कि आपके मुहरे धरे रहें और मात हो जाय। पर जाइए, सुन आइए। क्यों ख़्वाहम-ख़्वाह उनका दिल दुखाइएगा?

मिर्ज़ा—इसी बात पर मात ही करके जाऊँगा।

मीर—मैं खेलूँगा ही नहीं। आप जाकर सुन आइए।

मिर्ज़ा—अरे यार, जाना पड़ेगा हकीम के यहाँ। सिर-दर्द ख़ाक नहीं है; मुझे परेशान करने का बहाना है।

मिर्ज़ा—अच्छा, एक चाल और चल लूँ।

मीर—हर्गिज़ नहीं, जब तक आप सुन न आवेंगे, मैं मुहरे में हाथ ही न लगाऊँगा।

मिर्ज़ा साहब मजबूर होकर अंदर गए, तो बेगम साहबा ने त्योरियाँ बदलकर, लेकिन कराहते हुए कहा—"तुम्हें निगोड़ी शतरंज इतनी प्यारी है! चाहे कोई मर ही जाय, पर उठने का नाम नहीं लेते! नौज कोई तुम-जैसा आदमी हो!

मिर्ज़ा—क्या कहूँ, मीरसाहब मानते ही न थे। बड़ी मुश्किल से पीछा छुड़ाकर आया हूँ।

बेगम—क्या जैसे वह ख़ुद निखट्टू हैं, वैसे ही सबको समझते हैं? उनके भी तो बाल-बच्चे हैं; या सबका सफ़ाया कर डाला?

मिर्ज़ा—बड़ा लती आदमी है। जब आ जाता है, तब मजबूर होकर मुझे भी खेलना ही पड़ता है।

बेगम—दुतकार क्यों नहीं देते?

मिर्ज़ा—बराबर के आदमी हैं, उम्र में, दर्जे में, मुझसे दो अंगुल ऊँचे। मुलाहिज़ा करना ही पड़ता है।

बेगम—तो मैं ही दुतकारे देती हूँ। नाराज़ हो जाएँगे, हो जायँ। कौन किसी की रोटियाँ चला देता है। रानी रूठेंगी, अपना सुहाग लेंगी। हिरिया, जा, बाहर से शतरंज उठा ला। मीर साहब से कहना, मियाँ अब न खेलेंगे, आप तशरीफ़ ले जाइए।

मिर्ज़ा—हाँ हाँ, कहीं ऐसा ग़ज़ब भी न करना! ज़लील करना चाहती हो क्या!—ठहर हिरिया, कहाँ जाती है।

बेगम—जाने क्यों नहीं देते। मेरा ही ख़ून पिये, जो उसे रोके। अच्छा, उसे रोका; मुझे रोको तो, जानूँ।

यह कहकर बेगम साहबा झल्लाई हुई दीवानख़ाने की तरफ़ चलीं।

मिर्ज़ा बेचारे का रंग उड़ गया। बीबी की मिन्नतें करने लगे—"ख़ुदा के लिये तुम्हें हज़रत हुसेन की क़सम। मेरी ही मैयत देखे जो उधर जाय!" लेकिन बेगम ने एक न मानी। दीवानख़ाने के द्वार तक गईं, पर एक परपुरुष के सामने जाते हुए पाँव बँध-से गए। भीतर झाँका, संयोग से कमरा ख़ाली था। मीरसाहब ने दो-एक मुहरे इधर-उधर कर दिए थे और अपनी सफ़ाई जताने के लिये बाहर टहल रहे थे। फिर क्या था, बेगम ने अंदर पहुँचकर बाज़ी उलट दी। मुहरे कुछ तख़्त के नीचे फेंक दिए, कुछ बाहर; और किवाड़े अंदर से बंद करके कुँडी लगा दी। मीरसाहब दरवाज़े पर तो थे ही, मुहरे बाहर फेंके जाते देखे, चूड़ियों की झनक भी कान में पड़ी। फिर दरवाज़ा बंद हुआ, तो समझ गए, बेगम साहबा बिगड़ गईं। चुपके से घर की राह ली।

मिर्ज़ा ने कहा—तुमने ग़ज़ब किया!

बेगम—अब मीरसाहब इधर आए, तो खड़े-खड़े निकलवा दूँगी। इतनी लौ ख़ुदा से लगाते, तो क्या ग़रीब हो जाते। आप तो शतरंज खेलें, और मैं यहाँ चूल्हे-चक्की की फ़िक्र में सिर खपाऊँ! ले जाते हो हकीमसाहब के यहाँ कि अब भी ताम्मुल है?

मिर्ज़ा घर से निकले, तो हकीम के घर जाने के बदले मीरसाहब के घर पहुँचे, और सारा वृत्तांत कहा। मीरसाहब बोले—"मैंने तो जब मुहरे बाहर आते देखे, तभी ताड़ गया। फ़ौरन भागा। बड़ी ग़ुस्सेवर मालूम होती हैं। मगर आपने उन्हें यों सिर चढ़ा रक्खा है, यह मुनासिब नहीं। उन्हें इससे क्या मतलब कि आप बाहर क्या करते हैं। घर का इन्तज़ाम करना उनका काम है, दूसरी बातों से उन्हें क्या सरोकार?"

मिर्ज़ा—ख़ैर, यह तो बताइए, अब कहाँ जमाव होगा ?

मीर—इसका क्या ग़म। इतना बड़ा घर पड़ा हुआ है। बस यहीं जमे।

मिर्ज़ा—लेकिन बेगम साहबा को कैसे मनाऊँगा ? जब घर पर बैठा रहता था, तब तो वह इतना बिगड़ती थी, यहाँ बैठक होगी, तो शायद ज़िन्दा न छोड़ेंगी।

मीर—अजी, बकने भी दीजिए; दो-चार रोज़ में आप ही ठीक हो जायँगी। हाँ, आप इतना कीजिए कि आज से ज़रा तन जाइए।

२

मीरसाहब की बेगम किसी अज्ञात कारण से उनका घर से दूर रहना ही उपयुक्त समझती थीं। इसलिये वह उनके शतरंज-प्रेम की कभी आलोचना न करतीं; बल्कि कभी-कभी मीरसाहब को देर हो जाती, तो याद दिला देती थीं। इन कारणों से मीरसाहब को भ्रम हो गया था कि मेरी स्त्री अत्यन्त विनयशील और गंभीर है; लेकिन जब दीवानख़ाने में बिसात बिछने लगी और मीरसाहब दिन भर घर में रहने लगे, तो उन्हें बड़ा कष्ट होने लगा। उनकी स्वाधीनता में बाधा पड़ गई। दिन-भर दरवाज़े पर झाँकने को तरस जातीं।

उधर नौकरों में भी कानाफूसी होने लगी। अब तक दिन-भर पड़े-पड़े मक्खियाँ मारा करते थे। घर में चाहे कोई आवे, चाहे कोई जाय, उनसे कुछ मतलब न था। आठों पहर की धौंस हो गई। कभी पान लाने का हुक्म होता, कभी मिठाई का। और हुक्क़ा तो किसी प्रेमी के हृदय की भाँति नित्य जलता ही रहता था। वे बेगम साहबा से जा-जाकर कहते—"हुज़ूर, मियाँ की शतरंज तो हमारे जी का जंजाल हो गई! दिन भर दौड़ते-दौड़ते पैरों में छाले पड़ गए। यह भी कोई खेल है कि सुबह को बैठे, तो शाम ही कर दी! घड़ी-आध-घड़ी दिल-बहलाव के लिये खेल लेना बहुत है। ख़ैर, हमें तो कोई शिकायत नहीं; हुज़ूर के ग़ुलाम हैं, जो हुक्म होगा, बजा ही लावेंगे; मगर यह खेल मनहूस है। इसका खेलनेवाला कभी

पनपता नहीं; घर पर कोई न कोई आफ़त जरूर आती है। यहाँ तक कि एक के पीछे महल्ले के महल्ले तबाह होते देखे गए हैं। सारे महल्ले में यही चर्चा होती रहती है। हुजूर का नमक खाते हैं, अपने आका की बुराई सुन-सुनकर रंज होता है। मगर क्या करें।" इस पर बेगम साहबा कहतीं—"मैं तो ख़ुद इसको पसंद नहीं करती। पर वह किसी की सुनते ही नहीं, तो क्या किया जाय।"

महल्ले में भी जो दो-चार पुराने ज़माने के लोग थे, वे आपस में भाँति-भाँति के अमंगल की कल्पनाएँ करने लगे—"अब ख़ैरियत नहीं है। जब हमारे रईसों का यह हाल है, तो मुल्क का ख़ुदा ही हाफ़िज़। यह बादशाहत शतरंज के हाथों तबाह होगी। आसार बुरे हैं।"

राज्य में हाहाकार मचा हुआ था। प्रजा दिन-दहाड़े लूटी जाती थी। कोई फ़रियाद सुननेवाला न था। देहातों की सारी दौलत लखनऊ में खिंची चली आती थी, और वह वेश्याओं में, भाँड़ों में और विलासिता के अन्य अंगों की पूर्ति में उड़ जाती थी। अँगरेज़-कंपनी का ऋण दिन-दिन बढ़ता जाता था। कमली दिन-दिन भीगकर भारी होती जाती थी। देश में सुव्य-वस्था न होने के कारण वार्षिक कर भी न वसूल होता था। रेज़ीडेंट बार-बार चेतावनी देता था; पर यहाँ तो लोग विलासिता के नशे में चूर थे; किसी के कानों पर जूँ न रेंगती थी।

ख़ैर, मीरसाहब के दीवानख़ाने में शतरंज होते कई महीने गुज़र गए। नये-नये नक्शे हल किये जाते, नये-नये क़िले बनाए जाते; नित नयी व्यूह-रचना होती; कभी-कभी खेलते-खेलते झौड़ हो जाती; तू-तू मैं-मैं तक की नौबत आ जाती। पर शीघ्र ही दोनों मित्रों में मेल हो जाता। कभी-कभी ऐसा भी होता कि बाज़ी उठा दी जाती; मिर्ज़ा जी रूठकर अपने घर चले आते; मीरसाहब अपने घर में जा बैठते। पर रात भर की निद्रा के साथ सारा मनोमालिन्य शांत हो जाता था। प्रातःकाल दोनों मित्र दीवानख़ाने में आ पहुँचते थे।

एक दिन दोनों मित्र बैठे शतरञ्ज की दलदल में ग़ोते खा रहे थे कि

इतने में घोड़े पर सवार एक बादशाही फ़ौज का अफ़सर मीरसाहब का नाम पूछता हुआ आ पहुँचा। मीरसाहब के होश उड़ गए। यह क्या बला सिर पर आई! यह तलबी किस लिये हुई! अब ख़ैरियत नहीं नज़र आती! घर के दरवाजे बन्द कर लिए। नौकरों से बोले—"कह दो, घर में नहीं हैं।"

सवार—घर में नहीं, तो कहाँ हैं?

नौकर—यह मैं नहीं जानता। क्या काम है?

सवार—काम तुझे क्या बतलाऊँ? हुजूर में तलबी है—शायद फ़ौज के लिये कुछ सिपाही माँगे गए हैं। जागीरदार हैं कि दिल्लगी! मोरचे पर जाना पड़ेगा, तो आटे-दाल का भाव मालूम हो जायगा!

नौकर—अच्छा, तो जाइए, कह दिया जायगा।

सवार—कहने की बात नहीं है। मैं कल ख़ुद आऊँगा। साथ ले जाने का हुक्म हुआ है।

सवार चला गया। मीरसाहब की आत्मा काँप उठी। मिर्ज़ा जी से बोले—कहिए जनाब, अब क्या होगा?

मिर्ज़ा—बड़ी मुसीबत है। कहीं मेरी भी तलबी न हो।

मीर—कम्बख़्त कल फिर आने को कह गया है!

मिर्ज़ा—आफ़त है, और क्या! कहीं मोरचे पर जाना पड़ा, तो बेमौत मरे।

मीर—बस, यही एक तदबीर है कि घर पर मिलो ही नहीं। कल से गोमती पर कहीं वीराने में नक्शा जमे। वहाँ किसे ख़बर होगी? हज़रत आकर आप लौट जायँगे।

मिर्ज़ा—वल्लाह, आपको ख़ूब सूझी! इसके सिवा और कोई तदबीर नहीं है।

इधर मीरसाहब की बेगम उस सवार से कह रही थीं—"तुमने ख़ूब धता बताई।" उसने जवाब दिया—"ऐसे गावदियों को तो चुटकियों पर नचाता हूँ। इनकी सारी अक्ल और हिम्मत तो शतरञ्ज ने चर ली। अब भूलकर भी घर पर न रहेंगे।"

३

दूसरे दिन से दोनों मित्र मुँह-अँधेरे घर से निकल खड़े होते। बग़ल में एक छोटी-सी दरी दबाए, डिब्बे में गिलौरियाँ भरे गोमती-पार की एक पुरानी वीरान मसजिद में चले जाते, जिसे शायद नवाब आसिफ़-उद्दौला ने बनवाया था। रास्ते में तम्बाकू, चिलम और मदरिया ले लेते और मसजिद में पहुँच, दरी बिछा, हुक्का भरकर शतरञ्ज खेलने बैठ जाते थे।

फिर उन्हें दीन-दुनिया की फ़िक्र न रहती थी। 'किश्त', 'शह' आदि दो-एक शब्दों के सिवा उनके मुँह से और कोई वाक्य नहीं निकलता था कोई योगी भी समाधि में इतना एकाग्र न होता होगा। दोपहर को जब भूख मालूम होती, तो दोनों मित्र किसी नानबाई की दूकान पर जाकर खाना खा आते, और एक चिलम हुक्का पीकर फिर संग्राम-क्षेत्र में डट जाते। कभी-कभी तो उन्हें भोजन का भी ख़याल न रहता था।

इधर देश की राजनीतिक दशा भयंकर होती जा रही थी। कम्पनी की फ़ौजें लखनऊ की तरफ़ बढ़ी चली आती थीं। शहर में हलचल मची हुई थी। लोग बाल-बच्चों को लेकर देहातों में भाग रहे थे। पर हमारे दोनों खिलाड़ियों को इसकी ज़रा भी फ़िक्र न थी। वे घर से आते, तो गलियों में होकर। डर था कि कहीं किसी बादशाही मुलाज़िम की निगाह न पड़ जाय, जो बेगार में पकड़ जायँ। हज़ारों रुपए सालाना की जागीर मुफ़्त में ही हज़म करना चाहते थे।

एक दिन दोनों मित्र मसजिद के खँडहर में बैठे हुए शतरंज खेल रहे थे। मिर्ज़ा की बाज़ी कुछ कमज़ोर थी। मीरसाहब उन्हें किश्त-पर-किश्त दे रहे थे। इतने में कम्पनी के सैनिक आते हुए दिखाई दिए। यह गोरों की फ़ौज थी, लखनऊ पर अधिकार जमाने के लिये आ रही थी।

मीरसाहब बोले—अँगरेज़ी फ़ौज आ रही है; ख़ुदा ख़ैर करे।

मिर्ज़ा—आने दीजिए, किश्त बचाइए। लो यह किश्त!

मीर—ज़रा देखना चाहिए—यहीं आड़ में खड़े हो जायँ।

मिर्ज़ा—देख लीजिएगा, जल्दी क्या है—फिर किश्त!

मीर—तोपखाना भी है! कोई पाँच हज़ार आदमी होंगे। कैसे जवान हैं। लाल बंदरों के से मुँह हैं। सूरत देखकर खौफ़ मालूम होता है।

मिर्ज़ा—जनाब, हीले न कीजिए। ये चकमे किसी और को दीजिएगा—यह किश्त!

मीर—आप भी अजीब आदमी हैं। यहाँ तो शहर पर आफ़त आई हुई है, और आपको किश्त की सूझी है! कुछ इसकी भी ख़बर है कि शहर घिर गया, तो घर कैसे चलेंगे।

मिर्ज़ा—जब घर चलने का वक्त आवेगा, तो देखी जायगी—यह किश्त! बस, अब की शह में मात है।

फ़ौज निकल गई। दस बजे का समय था, फिर बाज़ी बिछ गई।

मिर्ज़ा बोले—आज खाने की कैसी ठहरेगी?

मीर—अजी, आज तो रोज़ा है। क्या आपको ज़्यादा भूख मालूम होती है?

मिर्ज़ा—शहर में कुछ न हो रहा होगा। लोग खाना खा-खाकर आराम से सो रहे होंगे। हुज़ूर नवाब साहब भी ऐशगाह में होंगे।

दोनों सज्जन फिर जो खेलने बैठे तो तीन बज गए। अब की मिर्ज़ा जी की बाज़ी कमज़ोर थी। चार का गजर बज ही रहा था कि फ़ौज की वापसी की आहट मिली। नवाब वाजिदअली शाह पकड़ लिए गए थे और सेना उन्हें किसी अज्ञात स्थान को लिये जा रही थी। शहर में न कोई हलचल थी, न मार-काट। एक बूँद भी ख़ून नहीं गिरा था। आज तक किसी स्वाधीन देश के राजा की पराजय इतनी शांति से, इस तरह ख़ून बहे बिना न हुई होगी। यह वह अहिंसा न थी, जिस पर देवगण प्रसन्न होते हैं। यह वह कायरपन था, जिस पर बड़े से बड़े कायर भी आँसू बहाते हैं। अवध के विशाल देश का नवाब बंदी बना चला जाता था और लखनऊ ऐश की नींद में मस्त था। यह राजनीतिक अधःपतन की चरमसीमा थी।

मिर्ज़ा ने कहा—हुज़ूर नवाबसाहब को ज़ालिमों ने क़ैद कर लिया है।

मीर—होगा, यह लीजिए शह!

मिर्ज़ा—जनाब ज़रा ठहरिए । इस वक्त इधर तबीअत नहीं लगती। बेचारे नवाबसाहब इस वक्त खून के आँसू रो रहे होंगे ।

मीर—रोया ही चाहें, यह ऐश वहाँ कहाँ नसीब होगा—यह किश्त !

मिर्ज़ा—किसी के दिन बराबर नहीं जाते। कितनी दर्दनाक हालत है !

मीर—हाँ, सो तो है ही—यह लो, फिर किश्त ! बस, अब की किश्त में मात है, बच नहीं सकते ।

मिर्ज़ा—खुदा की क़सम, आप बड़े बेदर्द हैं। इतना बड़ा हादसा देखकर आपको दुःख नहीं होता। हाय, ग़रीब वाजिदअली शाह !

मीर—पहले अपने बादशाह को तो बचाइए, फिर नवाब साहब का मातम कीजिएगा। यह किश्त और मात । लाना हाथ।

बादशाह को लिये हुए सेना सामने से निकल गई। उनके जाते ही मिर्ज़ा ने फिर बाज़ी बिछा दी। हार की चोट बुरी होती है। मीर ने कहा—"आइए, नवाब साहब के मातम में एक मरसिया कह डालें।" लेकिन मिर्ज़ा जी की राजभक्ति अपनी हार के साथ लुप्त हो चुकी थी, वह हार का बदला चुकाने के लिये अधीर हो रहे थे ।

४

शाम हो गई। खँडहर में चमगादड़ों ने चीखना शुरू किया । अबाबीलें आ-आकर अपने-अपने घोसलों में चिमटीं। पर दोनों खिलाड़ी डटे हुए थे, मानो दो ख़ून के प्यासे सूरमा आपस में लड़ रहे हों ।

मिर्ज़ा जी तीन बाजियाँ लगातार हार चुके थे; इस चौथी बाज़ी का रंग भी अच्छा न था। वह बार-बार जीतने का दृढ़ निश्चय करके सँभलकर खेलते थे; लेकिन एक-न-एक चाल ऐसी बेढब आ पड़ती थी, जिससे बाज़ी ख़राब हो जाती थी। हर बार हार के साथ प्रतिकार की भावना और भी उग्र होती जाती थी। उधर मीरसाहब मारे उमंग के ग़ज़लें गाते थे, चुटकियाँ लेते थे, मानो कोई गुप्त धन पा गए हों। मिर्ज़ा जी सुन सुनकर झुँझलाते और हार की झेंप मिटाने के लिये उनकी दाद देते थे। पर ज्यों-ज्यों बाज़ी कमजोर पड़ती थी, धैर्य हाथ से निकलता जाता था। यहाँ

तक कि वह बात-बात पर झुँझलाने लगे—"जनाब, आप चाल न बदला कीजिए। यह क्या कि एक चाल चले, और फिर उसे बदल दिया। जो कुछ चलना हो एक बार चल लीजिए। यह आप मुहरे पर ही हाथ क्यों रखे रहते हैं? मुहरे को छोड़ दीजिए। जब तक आपको चाल न सूझे, मुहरा छूइए ही नहीं। आप एक-एक चाल आध-आध घण्टे में चलते हैं। इसकी सनद नहीं। जिसे एक चाल चलने में पाँच मिनट से ज़्यादा लगे, उसकी मात समझी जाय। फिर आपने चाल बदली! चुपके से मुहरा वहीं रख दीजिए।"

मीरसाहब का फ़रज़ी पिटता था। बोले—"मैंने चाल चली ही कब थी?"

मिर्ज़ा—आप चाल चल चुके हैं। मुहरा वहीं रख दीजिए—उसी घर में।

मीर—उस घर में क्यों रक्खूँ? हाथ से मुहरा छोड़ा कब था!

मिर्ज़ा—मुहरा आप क़यामत तक न छोड़ें, तो क्या चाल ही न होगी! फ़रज़ी पिटते देखा, तो धाँधली करने लगे।

मीर—धाँधली आप करते हैं। हार-जीत तक़दीर से होती है। धाँधली करने से कोई नहीं जीतता।

मिर्ज़ा—तो इस बाज़ी में आपकी मात हो गई।

मीर—मुझे क्यों मात होने लगी?

मिर्ज़ा—तो आप मुहरा उसी घर में रख दीजिए, जहाँ पहले रक्खा था।

मीर—वहाँ क्यों रक्खूँ? नहीं रखता।

मिर्ज़ा—क्यों न रखिएगा? आपको रखना होगा।

तक़रार बढ़ने लगी। दोनों अपनी-अपनी टेक पर अड़े थे। न यह दबता था न वह। अप्रासंगिक बातें होने लगीं। मिर्ज़ा बोले—"किसी ने ख़ानदान में शतरञ्ज खेली होती, तब तो उसके क़ायदे जानते। वे तो हमेशा घास छीला किए, आप शतरंज क्या खेलिएगा! रियासत और ही चीज़ है। जागीर मिल जाने ही से कोई रईस नहीं हो जाता।"

मीर—क्या ! घास आपके अब्बाजान छीलते होंगे। यहाँ तो पीढ़ियों से शतरंज खेलते चले आते हैं।

मिर्ज़ा—अजी जाइए भी, ग़ाज़िउद्दीन हैदर के यहाँ बावर्ची का काम करते उम्र गुज़र गई, आज रईस बनने चले हैं। रईस बनना कुछ दिल्लगी नहीं।

मीर—क्यों अपने बुज़ुर्गों के मुँह में कालिख लगाते हो—वे तो बावर्ची का काम करते होंगे। यहाँ तो हमेशा बादशाह के दस्तरख़्वान पर खाना खाते चले आए हैं।

मिर्ज़ा—अरे चल चरकटे, बहुत बढ़-बढ़कर बातें न कर।

मीर—ज़बान सँभालिए, वर्ना बुरा होगा। मैं ऐसी बातें सुनने का आदी नहीं हूँ। यहाँ तो किसी ने आखें दिखाईं कि उनकी आँखें निकाल लीं। है हौसला !

मिर्ज़ा—आप मेरा हौसला देखना चाहते हैं, तो फिर आइए। आज दो-दो हाथ हो जायँ, इधर या उधर।

मीर—तो यहाँ तुमसे दबनेवाला कौन है ?

दोनों दोस्तों ने कमर से तलवारें निकाल लीं। नवाबी ज़माना था; सभी तलवार, पेशक़ब्ज़, कटार वगैरह बाँधते थे। दोनों विलासी थे; पर कायर न थे। उनमें राजनीतिक भावों का अधःपतन हो गया था। बादशाहत के लिये क्यों मरें ! पर व्यक्तिगत वीरता का अभाव न था। दोनों ने पैंतरे बदले, तलवारें चमकीं, छपाछप की आवाज़ें आईं। दोनों ज़ख्म खाकर गिरे और दोनों ने वहीं तड़प-तड़पकर जानें दे दीं। अपने बादशाह के लिये जिनकी आँखों से एक बूँद आँसू न निकला, उन्होंने शतरञ्ज के वज़ीर की रक्षा में प्राण दे दिए।

अँधेरा हो चला था। बाज़ी बिछी हुई थी। दोनों बादशाह अपने-अपने सिंहासनों पर बैठे मानों इन दोनों वीरों की मृत्यु पर रो रहे थे।

चारों तरफ़ सन्नाटा छाया हुआ था खँडहर की टूटी हुई मेहराबें, गिरी हुई दीवारें और धूलि-धूसरित मीनारें इन लाशों को देखती और सिर धुनती थीं।

श्री भगवतीप्रसाद वाजपेयी

जन्म—सन् १८९९ ई०; जन्म-भूमि—मंगलपुर, ज़िला कानपुर।

आजकल आप इलाहाबाद में रहते हैं। अत्यन्त साधारण परिवार में उत्पन्न होकर, अपनी ही प्रतिभा से, उन्नति करते-करते आप एक सफल साहित्यकार बने हैं। हिंदी-कहानी के द्वितीय युग के लेखकों में आप अपना एक विशेष स्थान रखते हैं। आप एक प्रतिभा-शाली कहानीकार ही नहीं, यशस्वी उपन्यासकार तथा कवि भी हैं। आपकी कहानियों में मानवात्मा की सार्वजनीन वेदना का मर्मस्पर्शी चित्रांकण मिलता है। आपकी अनेक कहानियाँ हिंदी के लिये गौरव की वस्तु हैं।

—उदयनारायण त्रिपाठी

एम्० ए०, साहित्यरत्न

मिठाईवाला

बहुत ही मीठे स्वरों के साथ वह गलियों में घूमता हुआ कहता—"बच्चों को बहलानेवाला, खिलौनेवाला।"

इस अधूरे वाक्य को वह ऐसे विचित्र, किन्तु मादक मधुर ढंग से गाकर कहता कि सुननेवाले एक बार अस्थिर हो उठते। उसमें स्नेहाभिषिक्त कण्ठ से फूटा हुआ उपर्युक्त गान सुनकर निकट के मकानों में हलचल मच जाती। छोटे छोटे बच्चों को अपनी गोद में लिये हुए युवतियाँ चिकों को उठाकर छज्जों पर से नीचे झाँकने लगतीं। गलियों और उनके अन्तर्व्यापी छोटे छोटे उद्यानों में खेलते और इठलाते हुए बच्चों का झुण्ड उसे घेर लेता। और तब वह खिलौनेवाला वहीं कहीं बैठकर खिलौने की पेटी खोल देता।

बच्चे खिलौने देखकर पुलकित हो उठते। वे पैसे लाकर खिलौनों

का मोल-भाव करने लगते। पूछते—"इछका दाम क्या है, औल इछका, औल इछका ?" खिलौनेवाला बच्चों को देखता, उनकी नन्हीं-नन्हीं अँगुलियों और हथेलियों से पैसे ले लेता और बच्चों के इच्छानुसार उन्हें खिलौने दे देता। खिलौने लेकर फिर बच्चे उछलने-कूदने लगते और तब फिर खिलौनेवाला उसी प्रकार गाकर चल देता—"बच्चों को बहलानेवाला, खिलौनेवाला।" सागर की हिलोर की भाँति उसका वह मादक गान गलीभर के मकानों में, इस ओर से उस ओर तक, लहराता हुआ पहुँचता और खिलौनेवाला आगे बढ़ जाता।

राय विजयबहादुर के बच्चे भी एक दिन खिलौने लेकर घर आए। वे दो बच्चे थे—चुन्नू और मुन्नू। चुन्नू जब खिलौना ले आया, तो बोला—"मेला घोला कैछा छुन्दल ऐ!"

मुन्नू बोला—"औल देखो मेला आती कैसा छुन्दल ऐ!"

दोनों अपने हाथी-घोड़े लेकर घर-भर में उछलने लगे। इन बच्चों की माँ रोहिणी कुछ देर तक खड़े-खड़े उनका खेल निरखती रही। अन्त में दोनों बच्चों को बुलाकर उसने उनसे पूछा—"अरे ओ चुन्नू-मुन्नू, ये खिलौने तुमने कितने में लिए हैं ?"

मुन्नू बोला—"दो पैछे में। थिलौनेवाला दे गआ ऐ!"

रोहिणी सोचने लगी—इतने सस्ते कैसे दे गया है ?

कैसे दे गया है, यह तो वही जाने। लेकिन दे तो गया ही है, इतना तो निश्चय है।

ज़रा-सी बात ठहरी, रोहिणी अपने काम में लग गई। फिर कभी उसे इस पर विचार करने की आवश्यकता भला क्यों पड़ती।

२

छै महीने बाद—

नगर-भर में दो-ही-चार दिनों में एक मुरलीवाले के आने का समाचार फैल गया। लोग कहने लगे—भई वाह! मुरली बजाने में यह एक ही उस्ताद है। मुरली बजाकर, गाना सुनाकर, वह मुरली बेचता भी है।

सो भी दो-दो पैसे। भला इसमें उसे क्या मिलता होगा। मेहनत भी तो न आती होगी।

एक व्यक्ति ने पूछ दिया—"कैसा है वह मुरलीवाला, मैंने तो उसे नहीं देखा।"

उत्तर मिला—"उमर तो उसकी अभी अधिक न होगी, यही तीस-बत्तिस का होगा। दुबला-पतला गोरा युवक है, बीकानेरी रंगीन साफ़ा बाँधता है।"

"वही तो नहीं, जो पहले खिलौने बेचा करता था?"

"क्या वह पहले खिलौने भी बेचता था?"

"हाँ, जो आकार-प्रकार तुमने बतलाया, उसी प्रकार का वह भी था।"

"तो वही होगा। पर भई, है वह एक ही उस्ताद।"

प्रतिदिन इसी प्रकार उस मुरलीवाले की चर्चा होती। प्रतिदिन नगर की प्रत्येक गली में उसका मादक मृदुल स्वर सुनाई पड़ता—"बच्चों को बहलानेवाला मुरलियावाला!"

रोहिणी ने भी मुरलीवाले का यह स्वर सुना। तुरन्त ही उसे खिलौनेवाले का स्मरण हो आया। उसने मन-ही-मन कहा—खिलौनेवाला भी इसी तरह गा गाकर खिलौने बेचा करता था।

रोहिणी उठकर अपने पति विजयबाबू के पास गई। बोली—"ज़रा उस मुरलीवाले को बुलाओ तो, चुन्नू-मुन्नू के लिये ले लूँ। क्या जाने यह फिर इधर आवे, न आवे। वे भी, जान पड़ता है, पार्क में खेलने निकल गए हैं।"

विजयबाबू एक समाचार-पत्र पढ़ रहे थे। उसी तरह उसे लिये हुए वे दरवाज़े पर आकर मुरलीवाले से बोले—"क्यों भई, किस तरह देते हो मुरली?"

किसी की टोपी गली में गिर पड़ी। किसी का जूता पार्क में ही छूट गया और किसी की सोथनी (पायजामा) ही ढीली होकर लटक आई। इस तरह दौड़ते-हाँफते हुए बच्चों का झुण्ड आ पहुँचा। एक स्वर से सब बोल उठे—"अम बी लेंदे मुल्ली, औल अम बी लेंदे मुल्ली।"

मुरलीवाला हर्ष-गद्गद हो उठा। बोला—"सबको देंगे भैया, ज़रा रुको, ज़रा ठहरो, एक-एक को लेने दो। अभी इतनी जल्दी हम कहीं लौट थोड़े ही जायँगे। बेचने तो आए ही हैं। और हैं भी इस समय मेरे पास एक-दो नहीं, पूरी सत्तावन।.. हाँ बाबू जी, क्या पूछा था आपने, कितने में दीं?... दीं तो वैसे तीन-तीन पैसे के हिसाब से हैं, पर आपको दो-दो पैसे में ही दे दूँगा।"

विजयबाबू भीतर-बाहर दोनों रूपों में मुसकरा दिए। मन-ही-मन कहने लगे—"कैसा ठग है! देता सब को इसी भाव से है, पर मुझपर उल्टा एहसान लाद रहा है। फिर बोले—"तुम लोगों की झूठ बोलने की आदत होती है। देते होगे सभी को दो-दो पैसे में, पर एहसान का बोझ मेरे ऊपर लाद रहे हो।"

मुरलीवाला एकदम अप्रतिभ हो उठा। बोला—"आपको क्या पता बाबूजी कि इनकी असली लागत क्या है। यह तो ग्राहकों का दस्तूर होता है कि दूकानदार चाहे हानि ही उठाकर चीज़ क्यों न बेचे, पर ग्राहक यही समझते हैं—दूकानदार मुझे लूट रहा है।...आप भला काहे को विश्वास करेंगे। लेकिन सच पूछिए तो बाबूजी, इनका असली दाम दो ही पैसे हैं। आप कहीं से भी दो-दो पैसे में ये मुरलियाँ नहीं पा सकते। मैंने तो पूरी एक हज़ार बनवाई थीं, तब मुझे इस भाव पड़ी हैं।"

विजयबाबू बोले—"अच्छा-अच्छा, मुझे ज़्यादा वक्त नहीं है, जल्दी से दो ठो निकाल दो।"

दो मुरलियाँ लेकर विजयबाबू फिर मकान के भीतर पहुँच गए।

मुरलीवाला देर तक उन बच्चों के झुण्ड में मुरलियाँ बेचता रहा। उसके पास कई रङ्ग की मुरलियाँ थीं। बच्चे जो रङ्ग पसन्द करते, मुरलीवाला उसी रंग की मुरली निकाल देता।

"यह बड़ी अच्छी मुरली है, तुम यही ले लो बाबू राजाबाबू, तुम्हारे लायक तो बस यह है।...हाँ भैये, तुमको वही देंगे। यह लो।...तुमको वैसी न चाहिये, ऐसी चाहिये?—यह नारङ्गी रङ्ग की?—अच्छा यही

लो।...पैसे नहीं हैं? अच्छा, अम्मा से पैसे ले आओ। मै अभी बैठा हूँ। .. तुम ले आए पैसे?...अच्छा, यह लो तुम्हारे लिये मैंने पहले ही से निकाली रक्खी थी।...तुमको पैसे नहीं मिले! तुमने अम्मा से ठीक तरह से माँगे न होंगे? धोती पकड़ के, पैरों में लिपट के, अम्मा से पैसे माँगे जाते हैं, बाबू।...हाँ, फिर जाओ। अबकी बार मिल जायँगे।...दुअन्नी है? तो क्या हुआ, ये छै पैसे वापस लो। ठीक हो गया न हिसाब?...मिल गए पैसे! देखो, मैंने कैसी तरकीब बताई! अच्छा, अब तो किसी को नहीं लेना है?—सब ले चुके? तुम्हारी माँ के पास पैसे नहीं हैं! अच्छा, तुम भी यह लो।...अच्छा, तो अब मैं चलता हूँ।"

इस तरह मुरलीवाला फिर आगे बढ़ गया।

३

आज अपने मकान में बैठी हुई रोहिणी मुरलीवाले की सारी बातें सुनती रही। आज भी उसने अनुभव किया, बच्चों के साथ इतने प्यार से बातें करनेवाला फेरीवाला पहले कभी नहीं आया—फिर, वह सौदा भी कैसा सस्ता बेचता है और आदमी कैसा भला जान पड़ता है! समय की बात है, जो बेचारा इस तरह मारा-मारा फिरता है। पेट जो कराए सो थोड़ा।

इसी समय मुरलीवाले का क्षीण स्वर निकट की दूसरी गली से सुनाई पड़ा—बच्चों को बहलानेवाला, मुरलियावाला!

रोहिणी इसे सुनकर मन-ही-मन कहने लगी—"स्वर कैसा मीठा है इसका!"

बहुत दिनों तक रोहिणी को मुरलीवाले का यह मीठा स्वर और उसकी बच्चों के प्रति स्नेह-सिक्त बातें याद आती रहीं। महीने-के-महीने आए और चले गए, पर मुरलीवाला न आया। फिर धीरे-धीरे उसकी स्मृति भी क्षीण होती गई।

४

आठ मास बाद—

सरदी के दिन थे। रोहिणी स्नान करके अपने मकान की छत पर चढ़-कर आजानुविलम्बित केश-राशि सुखा रही थी। इसी समय नीचे की गली में सुनाई पड़ा—बच्चों को बहलानेवाला, मिठाईवाला।

मिठाईवाले का यह स्वर परिचित था, झट से रोहिणी नीचे उतर आई। इस समय उसके पति मकान में नहीं थे। हाँ, उसकी वृद्धा दादी थीं। रोहिणी उनके निकट आकर बोली—"दादी, चुन्नू मुन्नू के लिये मिठाई लेनी है। ज़रा कमरे में चलकर ठहराओ तो। मैं उधर कैसे जाऊँ, कोई आता न हो। ज़रा हटकर मैं भी चिक की ओट में बैठी रहूँगी।"

दादी उठकर कमरे में आकर बोलीं—"ए मिठाईवाले, इधर आना।"

मिठाईवाला निकट आ गया। बोला—"माँ, कितनी मिठाई दूँ? नयी तरह की मिठाइयाँ हैं; रंग-बिरंगी, कुछ-कुछ खट्टी, कुछ-कुछ मीठी और ज़ायक़ेदार। बड़ी देर तक मुँह में टिकती हैं। जल्दी नहीं घुलतीं। बच्चे बड़े चाव से चूसते हैं। इन गुणों के सिवा ये खाँसी को भी दूर करती हैं। कितनी दूँ? चपटी, गोल और पहलदार गोलियाँ हैं। पैसे की सोलह देता हूँ।"

दादी बोलीं—"सोलह तो बहुत कम होती हैं; भला पचीस तो देते।"

मिठाईवाला—"नहीं दादी, अधिक नहीं दे सकता। इतनी भी कैसे देता हूँ, यह अब मैं आपको क्या...। ख़ैर, मैं अधिक तो न दे सकूँगा।"

रोहिणी दादी के पास ही बैठी थी। बोली—"दादी, फिर भी काफ़ी सस्ती दे रहा है। चार पैसे की ले लो। ये पैसे रहे।"

मिठाईवाला मिठाइयाँ गिनने लगा।

"तो चार पैसे की दे दो। अच्छा, पचीस न सही, बीस ही दो। अरे हाँ, मैं बूढ़ी हुई, मोल-भाव मुझे तो अब ज़्यादा करना भी नहीं आता।"—कहते हुए दादी के पोपले मुँह की ज़रा-सी मुसकराहट भी फूट निकली।

रोहिणी ने दादी से कहा—"दादी इससे पूछो, तुम इस शहर में और भी कभी आए थे, या पहली ही बार आए हो। यहाँ के निवासी तो तुम हो नहीं।"

दादी ने इस कथन को दोहराने की चेष्टा की ही थी कि मिठाईवाले ने उत्तर दिया—"पहली बार नहीं ; और भी कई बार आ चुका हूँ।"

रोहिणी चिक की आड़ ही से बोली—"पहले यही मिठाई बेचते हुए आए थे, या और कोई चीज़ लेकर ?"

मिठाईवाला हर्ष, संशय और विस्मयादि भावों में डूबकर बोला—"इससे पहले मुरली लेकर आया था; और उससे भी पहले खिलौने लेकर।"

रोहिणी का अनुमान ठीक निकला। अब तो वह उससे और भी कुछ बातें पूछने के लिये अस्थिर-अधीर हो उठी। वह बोली—"इन व्यवसायों में भला तुम्हें क्या मिलता होगा ?"

वह बोला—"मिलता तो क्या है, यही खाने-भर को मिल जाता है। कभी नहीं भी मिलता है। पर हाँ, सन्तोष और धीरज और कभी-कभी असीम सुख जरूर मिलता है। और यही मैं चाहता भी हूँ।"

"सो कैसे ? वह भी बताओ।"

"अब व्यर्थ में उन बातों की चर्चा क्यों करूँ। उन्हें आप जाने ही दें। उन बातों को सुनकर आपको दुःख होगा।"

"जब इतना बताया है, तब और भी बता दो। मैं बहुत उत्सुक हूँ। तुम्हारा हर्जा न होगा। और भी मिठाई मैं ले लूँगी।"

अतिशय गम्भीरता के साथ मिठाईवाले ने कहा—

"मैं भी अपने नगर का एक प्रतिष्ठित आदमी था। मकान, व्यवसाय, गाड़ी-घोड़े, नौकर-चाकर सभी कुछ था। स्त्री थी, छोटे-छोटे दो बच्चे भी थे। मेरा वह सोने का संसार था। बाहर सम्पत्ति का वैभव था, भीतर सांसारिक सुख का। स्त्री सुन्दर थी, मेरा प्राण थी। बच्चे ऐसे सुन्दर थे, जैसे सोने के सजीव खिलौने। उनकी अठखेलियों के मारे घर में कोलाहल मचा रहता था। समय की गति—विधाता की लीला ! अब कोई नहीं है। दादी, प्राण निकाले नहीं निकले। इसीलिये अपने उन बच्चों की खोज में निकला हूँ। वे सब अन्त में होंगे तो यहीं कहीं। आख़िर कहीं-न-कहीं तो जन्मे ही होंगे। उस तरह रहता, तो घुल-घुलकर मरता। इस तरह सुख-

संतोष के साथ मरूँगा। इस तरह के जीवन में कभी-कभी अपने उन बच्चों की एक झलक-सी मिल जाती है। ऐसा जान पड़ता है, जैसे वे इन्हीं में उछल-उछलकर हँस-खेल रहे हैं। पैसों की कमी थोड़े ही है। आपकी दया से पैसे तो काफ़ी हैं। जो नहीं है, इस तरह उसी को पा जाता हूँ।"

रोहिणी ने अब मिठाईवाले की ओर देखा। देखा—उसकी आँखें आँसुओं से तर हैं।

इसी समय चुन्नू मुन्नू आ गए। रोहिणी से लिपटकर, उसका अंचल पकड़कर बोले—"अम्मा, मिठाई।"

"मुझसे लो"—कहकर तत्काल काग़ज़ की दो पुड़ियों में मिठाइयाँ भरकर मिठाईवाले ने चुन्नू-मुन्नू को दे दीं।

रोहिणी ने भीतर से पैसे फेंक दिए।

मिठाईवाले ने पेटी उठाई और कहा—"अब इस बार ये पैसे न लूँगा।"

दादी बोली—"अरे-अरे, न-न, अपने पैसे लिये जा भाई!"

किन्तु तब तक आगे सुनाई पड़ा, उसी प्रकार मादक मृदुल स्वर में—"बच्चों को बहलानेवाला मिठाईवाला।"

श्री रामेश्वर शुक्ल 'अंचल'

जन्म सन् १९१५ ई० ; निवास-स्थान—किशनपुर, ज़िला फ़तेहपुर। आजकल आप इलाहाबाद में रहते हैं।

'अञ्चल' हिन्दी के अग्रणी प्रगतिशील कवि हैं। आपने कहानियाँ भी सुन्दर लिखी हैं। पहले आप अधिकांश रूप से रोमैंटिक कहानियाँ लिखा करते थे। पर इधर कुछ वर्षों से आपने देश के पीड़ित वर्ग को लेकर, कुछ उत्कृष्ट और भयानक, कारुणिक और ओजपूर्ण कहानियाँ भी लिखी हैं। हिन्दी कथा-साहित्य के प्रगतिशील वर्ग में 'अञ्चल' जी अपना एक विशेष स्थान बना रहे हैं।

हत्यारा

१

जीवनभर अभावों और बेचैनियों से लड़ते-लड़ते एक दिन रामदीन ने देखा कि उसके जीर्ण नष्ट-प्राय झोंपड़े के सामने का तालाब भी सूख चला है।

यह तालाब रामदीन का बड़ा पुराना साथी, सच्चा हमदर्द था। एक दुःखद धुँधलेपन के साथ उसे याद आया कि इसी तालाब के किनारे बचपन में उसने दिन-दिन भर मस्ती के साथ समय बिताया है। जेठ-वैशाख की उबलती दोपहरियों में, सावन-भादों की उमड़ती बदली और धुँआधार बारिश में, शरद के प्रभातों की बिखरी रोशनी में, और हेमन्त की दाँत बजानेवाली नग्न ठिठुरन में इसी तालाब में उसने अपने काले पंक-पूरित शरीर को जी भर-भर डुबोया है। इसी तालाब के किनारे बचपन में उसकी माँ बैठकर बरतन माँजा करती थी। इसी तालाब के किनारे नित्य बरतन माँजते-माँजते उसकी औरत भरी जवानी में एक अधमरा-सा मांसपिण्ड प्रसव करके अपने भगवान के घर चली गई। आज भी उसकी बेवा अन्धी

बहू बिंदिया इसी तालाब के किनारे बैठकर मूक, मन्थर, संचार-हीन यन्त्र-सी जीवन के निर्जीव संस्मरणों को चमकाया करती है! रामदीन ने वे दिन भी देखे हैं, जब इसी तालाब के चारों ओर सिंघाड़े की बेलों का संसार छाया रहता था। कुछ नीला कुछ सफ़ेद पानी साफ़ बड़ी-बड़ी बूँदों में, चारों ओर टुकुर-टुकुर निहारा करता था। आज रामदीन ने भले ही जीवन और प्रति-क्षण घटित होनेवाले परिवर्तन पर विजय पा ली हो, भले ही वह इन्क़िलाब की दुनियाँ से निकलकर कठोर जड़ता, शेष जीवन-व्यापिनी एकरसता का एक दुखता हुआ अंग बन गया हो; पर यह तालाब तो जीवित रहने के लिये नहीं जी रहा था। भले ही रामदीन के सामने उसका हाथी-सा जवान लड़का मेंढक की तरह दम तोड़कर उसकी छाती पर अपनी अन्धी चट्टान रखकर भूखे-प्यासों की इस बेहया बस्ती से दूर निकल गया हो, और रामदीन को अपने दैनिक कार्य-क्रम में एक निदारुण कर्कशता, एक टीसभरी टंकार के अतिरिक्त अब और कुछ अवशेष न हो, पर ऐसी शीतल छातीवाले इस मुक्त जग-कल्लोल-प्रवाह में कौन-सी आँच पहुँच गई।

दिन चढ़ चुका था। काफ़ी से ज़्यादा। अन्धी बिंदिया जाँत पीस रही थी। रामदीन ने खाँसते हुए पुकारा—"बहू!"

"क्या है दादा?"

"हमारे मकान के सामने का तालाब सूख गया। तुम तो देख ही नहीं सकती, बहू। मैं तो उसे शुरू से देखता आया हूँ। इसके पानी की एक-एक धारा किनारे की एक-एक सेवार, एक-एक काई मेरी पहिचानी हुई है।"

"होगा दादा," बिंदिया ने गीले कण्ठ से कहा—"दुर्दिन में खूँटी भी हाड़ लील लेती है। मैं अन्धी ठहरी। इस तालाब से पानी ले आती थी। किनारे बैठकर बर्तन माँज लेती थी। अब न जाने कहाँ जाना होगा। यदि मैं न जा सकूँगी, उतनी दूर, तो तुम्हें ही जाना होगा।"

"मगर इसको भी सूखने की क्या ज़रूरत थी। शुरू से इसने मेरा साथ

दिया। फिर मेरी ज़िन्दगी में यह क्यों सूखा? मेरे मरने के बाद, इसका सूखना-न-सूखना मेरे लिये कोई विशेष अन्तर न रखता। नदी के उस पार जब मुसाफ़िर निकल गया, तब इस पार चाहे आग लगे, चाहे बिजली गिरे, उसे क्या! आदमी की ज़िन्दगी भी तो कुछ ऐसी ही होती है, बहू।''

बिंदिया की अन्धी सत्ता पूर्ण-रूप से मूक च्चीत्कारों में उसकी दृष्टिहीन पुतलियों को छेद-छेदकर मानों रामदीन की बात का समर्थन कर उठी।'

२

रामदीन का काम था, दिन-भर सिर पर टोकरा रख मजदूरी करना और बिंदिया का घर पर रहकर अन्धकार के महासागर में एकाकी टकराते रहना।

शाम को जब रामदीन लौटा, बिंदिया और उसका तीन साल का बच्चा आकर दरवाज़े पर खड़े हो गए। यही वह स्थल होता है जब एक भिखारी भी बादशाह हो जाता है। उसे प्रतीत होता है, उसमें भी कुछ शक्ति, बल और क्षमता है। वह भी दो को खिलाकर खाता है। पर आज तो रामदीन दिन-भर में एक पैसे की बीड़ी उधार लेकर पी गया था, कहीं भी कुछ काम न मिला। घर में कुछ था ही नहीं। बिंदिया उसकी जड़, मौन पत्थर-चेष्टा देखकर समझकर जान गई—आज की रात काल-रात्रि होने-वाली है। यह उसके जीवन में पहला मौका नहीं था। जीवन की कितनी ही रातें उसने इसी मौत जैसी ठण्डी निराशा में भिगो डाली हैं और सारी रात उसी के गीलेपन में अपनी दृष्टिहीन आँखों की तरी को एकाकार करती रही है। वह भूखी रह सकती थी। रामदीन भी यदि औसत लगाया जाय, तो क़रीब-क़रीब आधी ही ज़िन्दगी भूखा रहा होगा। पर तीन साल का 'टीपू' नन्हा और जीवन के नरक से अपरिचित!

बिंदिया काँप उठी। घर में एक पैसा नहीं है। आस-पास दूर-दूर तक कोई झोपड़ी—मकान भी नहीं है। रात में उसने गेहूँ पीसे थे। मज़दूरी के पैसे पहले ही मिल चुके थे। यदि ज्ञात होता तो उसमें से पाव-आधसेर आटा निकाल लेती। अपने लिये नहीं, अपने उस सजीव मांसपिण्ड के

लिये जिसे उसने पौन साल अपने अधभूखे पञ्जर में पाला था। रातभर झोपड़ी के अन्दर एक तरफ रामदीन पड़ा खाँसता रहा, और दूसरी ओर बिंदिया अपने तीन साल के भूखे बच्चे को समेटे ज्यों-की-त्यों पड़ी रही। रात को चौथे पहर उसे हहाकर बुखार चढ़ आया। उसकी कराहों से मासूम बच्चा भी जगकर-घबराकर रो उठा।

रामदीन ने जब सुबह उठकर झोपड़ी का चद्दर एक ओर हटाया तो तालाब की ओर देखते ही वह फिर उदास हो गया। उसे रह-रहकर यही मालूम होता, जैसे यह कोई बहुत बड़ी आग है, जो धरती के भीतर-ही-भीतर सुलग रही है। अगर इतना बड़ा और इतना पुराना तालाब उसके अगोचर अविजानित आँच में सूख जा सकता है, तो इस बस्ती, इन मकानों, इन मन्दिरों के जलने में भी अब देर नहीं है। वह भयभीत भी होने लगा।

रोज़ की तरह वह फिर अपना टोकरा सँभालकर काम की तलाश में निकला। एक मज़दूर की ज़िन्दगी ही क्या! न घर में आटा था, न पास में पैसा। बिंदिया घर में पीसकर कुछ पैसे पा सकती थी। आज वह अपनी ही यन्त्रणा में झुलसी जा रही थी। बनिये के कई रुपये हो गए थे, जो रोज तक़ाज़ा करता था—मारने की धमकी के साथ-साथ। सोचा, चलूँ जाते ही जो कुछ मिलेगा, उसे घर में लाकर पहले टीपू को खिला दूँगा, फिर बोझा ढोकर शाम को अपने और बिंदिया के लिये पकाऊँगा।

मगर पूरा दिन उसी तरह बीत गया। उसी सरलता और सद्भावना से। दिनभर तलाश में रहा। न जाने कितनों से याचना की—भीख मांगी। मगर एक पैसा भी न मिला। एक-एक क्षण आग का तिनगा हो रहा था। आत्मा और कलेजे को जलाता हुआ वेग के साथ चला जाता। शाम को भूखा, निराश, थका हुआ घर लौटा! टीपू भूख से व्याकुल होकर बिंदिया से रोटी माँग रहा था और रो रहा था। उसका मुँह सूखकर छोटा-सा हो गया था। आँखों में भूख, तृष्णा। मगर रोटी वहाँ कहाँ? वह ग़रीब तो स्वयं रो रही थी। अपनी पीड़ा भूख से नहीं, वरन् अपने कलेजे के टुकड़े

को बिलखते देखकर। वह अन्धी थी। दुनिया को तो न देख सकती थी, पर उसके शरीर का कोई भाग—भले ही अब वह स्वतन्त्र अस्तित्व बन गया हो—भी तो उससे छिपा न था।

उसके रोम-रोम से धुआँ निकल रहा था।

रामदीन को देखते ही टीपू उससे लिपट गया और कुर्ता उठाकर अपना भीतर का धँसा हुआ, सिकुड़ा पेट दिखाने लगा। रामदीन तो उस समय बेहोश था। उसे यह भी न मालूम हुआ कि कब उसके सीने से लिपटा हुआ बच्चा सो गया, जिसके गालों पर आँसुओं की नीली रेखाएँ अपनी शुष्क प्रगति छोड़ गई थीं।

सोकर उठते ही फिर सुबह काम की खोज में निकला। टीपू को सोते से जगाने की हिम्मत नहीं पड़ी। अगर उसने रोटी माँगी, तो क्या दूँगा। मगर क्या होनेवाला था! उस दिन भी कोई काम नहीं मिला। वह पागल की तरह सड़कों पर घूमता रहा। किसी ने उसकी ओर नहीं देखा। एक बाबू साहब अपने बच्चे को लिये जा रहे थे। उसके हाथ में बिस्कुट थे। वहीं पर बच्चे का एक बिस्कुट गिर पड़ा। रामदीन ने झपटकर उसे उठा लिया और तेज़ी से घर की ओर भागा।

टीपू भूख से तड़पकर सो गया था। बिंदिया पड़ी थी। आँखें बरसाती नाले-सी चल रही थीं। तीन दिन में महीनों की सी बीमारी घेरे थी, जैसे टूट गई हो। मुँह से बोल नहीं निकलता था। बच्चे को जगाया। बिस्कुट खाने को दिया। दो दिन की भूखी रोगिणी और भूखा रामदीन ग़म खाकर लेट गए।

तीसरे दिन भूख की ज्वाला से स्वतः सुलगता हुआ, जब रामदीन घर लौटा तो उसके पैर काँप रहे थे। अंगों से शोले निकल रहे थे। लड़खड़ाता हुआ वह घर में घुसा। बच्चा ज़मीन पर पड़ा था—आँखें गड्ढे में घुस गई थीं। खाट पर पड़ी बिंदिया शिथिल कातर थी। अन्धी थी, पर बच्चे की तरफ़ ही देख रही थी। बीच-बीच में टीपू आर्तनाद करता हुआ उसकी ओर देख लेता था। बिंदिया ने रामदीन की मूक वापसी से कुछ जान लिया।

टीपू रामदीन को देखते ही झपटकर उठा—"बाबा, रोटी लाए। दो—अभी दो। कच्ची ही दो।"

निरीह झोपड़ी की गोद। रात काली और भयानक। आकाश में तारे सिसक रहे थे। नीचे हाहाकारमयी यन्त्रणा में ये प्राणी। कुशल इतनी थी कि झोपड़ी की छत से टकराकर उनका आर्तनाद भीतर ही भीतर उमसकर रह जाता था। बाहर नहीं निकल पाता था। नहीं तो...जाने भी दो।

रामदीन का रक्त-प्रवाह भी रुक-सा रहा था। झोपड़ी की छत को साँसों से जो आस्मान दिखाई देता था, वह भी थरथरा रहा था। टीपू उसके पास ही लेटा था। रामदीन की पूरी ज़िन्दगी अपनी सारी तस्वीरें लेकर उसकी आँखों में घूम चली। बीच-बीच में जब टीपू धीरे से क्षीणप्राय कण्ठ से 'रो—टी' कह उठता, उस समय रामदीन के सामने के चल-चित्रों का सिलसिला खट से टूट जाता। "तीन दिन का भूखा टीपू।" रामदीन आगे सोच न सका। भूख में घुटता हुआ अबोध शिशु और दूसरी ओर अन्धी बहू की असह्य वेदना। रामदीन टीपू के शरीर पर हाथ फेरने लगा। टीपू ने कुम्हलाकर आँखें खोलीं। उस सूखे तालाब-सी ही जड़ता और स्थिरता उनमें भी आ चली थी। पुतलियाँ अबड़-खबड़ मिट्टी की ऐंठी अकड़ी दरारों की भाँति ही भयावह हो रही थीं।

रामदीन को ज्ञात हुआ जैसे वह शराब के नशे में है। अचेतन, अवसादपूर्ण असार। अपने शरीर, हाथ, आँख, दिल, किसी पर उसका अधिकार नहीं। सब उसके हाथ से बाहर निकले जा रहे हैं। टीपू ने फिर एक बार कोशिश करके रोटी माँगी। रामदीन के दुर्बल, गतिहीन हाथ टीपू के गले पर दौड़े। उसकी वक्र, निःसत्व उँगलियाँ क़फ़न का ताना-बाना गूँथ चलीं।

कई मिनट वह ऐसे ही स्तब्ध और पत्थरवत् खड़ा रहा। नशा अभी ख़त्म नहीं हुआ था। तीन दिन का भूखा टीपू तो अपनी मंज़िल की ओर चल पड़ा था।

नशा उखड़ा, सपना टूटा और चेतना में भूडोल आया। रामदीन

तीर की तरह उठ बैठा और बिंदिया के पास चला गया। आधी बेहोश और आधी सोई हुई वह तीन दिन की भूखी अन्धी मानो सपने में टीपू को भर-पेट मिठाई खिला रही थी। रामदीन ने पास आकर उसे झकझोर डाला; परन्तु फिर भी कदाचित् उसका वह समां न टूटा। लेकिन रामदीन ने जब मतवालेपन की-सी मादकता में उसका गला घोंटा तब तो वह उसी प्रकार कें-कें कर उठी, जैसे सड़क पर कुत्ते ऊपर से लारी निकल जाने पर चीख़ उठते हैं।

रामदीन फिर झोपड़े में फावड़ा तलाश करने लगा। तीन दिन के भूखे शरीर में भी दफ़नाने की ताक़त शेष रह ही जाती है। तालाब की सूखी ज़मीन में रात को अखण्डरूप से उसका फावड़ा चलने लगा। सुबह होते-होते दो गढ़े तैयार हो गए। एक में उसने भीतर से लाकर टीपू को गाड़ दिया और दूसरे के लिये बिंदिया को लाने चला। आज जब वह फटती हुई पौ में अपनी अन्धी बहू को दोनों हाथों में उठाए, झोंपड़ी से गढ़े की ओर चला, तो उसका शरीर थर-थर काँप उठा। पैर लड़खड़ाने लगे और आँखों से तीन-चार बूँद पानी चू पड़ा। इससे ज़्यादा की कदाचित् गुञ्जाइश न थी।

दूसरे गढ़े में बिंदिया को गाड़कर दोनों गढ़ों पर मिट्टी तोपकर जब वह हाँफते-हाँफते खड़ा हुआ, तो उसने एक सहूलियत की साँस ली। दोनों को एक साथ न गाड़कर उसने अलग-अलग गाड़ा था। कहीं क़ब्र में भी टीपू बिंदिया से रोटी न माँगे। मरने के बाद भी प्राणी की भूख-प्यास कहीं चली नहीं जाती, ऐसा उसका विश्वास था। उसने अपने संगी रघुनाथ से सुना था कि कैसे उसका भूखा जवान लड़का, जो बिना दवा, पथ और रोटी के मरा था, नित्य उसके खाने के समय काँपता हुआ धीरे-धीरे, अज्ञात अलक्ष्य से उतरकर थाली के पास बैठ जाता था। आज इस अवस्था में भी रघुनाथ की बात याद आते ही वह कंटकित हुआ। उसका एक-एक रोम खड़ा हो गया। वहीं वह धम्म से बैठ गया।

धीरे-धीरे दोपहर की किरणें आकाश में, ऊपर, चढ़ने लगीं। रामदीन

अब तक यहाँ पड़ा रहा, विक्षिप्त और संत्रस्त। वह नहीं जान पाया। सहसा जब उसकी दिवा-अचेतना टूटी, तो उसने देखा उसे पाँच-छै लोग घेरे खड़े हैं, जिनमें दो पुलिस वाले भी हैं। उनके साथ चल पड़ने के लिये प्रस्तुत होते ही वह तालाब की ओर देखकर बड़ी ज़ोर के साथ चिंग्घाड़ उठा।

तालाब में फिर पानी लहरा रहा था, पर इस बार उसका रङ्ग फीका लाल था—कुछ-कुछ वैसाही, जैसा मछलियों को काट कर, धोने पर, उनकी धोवन।

पं० वाचस्पति पाठक

जन्म—सन् १९०८ ई०; जन्म-स्थान—काशी। आजकल आप इलाहाबाद में रहते हैं।

पाठक जी ने कहानियाँ अधिक नहीं लिखीं, तो भी हिंदी-कथा-साहित्य में वे अपना एक विशेष स्थान रखते हैं। उनकी कहानियों की पृष्ठभूमि सदा नयी रहती है। जीवन के बाह्य व्यापारों में, अन्तर का चित्र उपस्थित करने की उनमें अद्भुत शक्ति है। यदि पाठक जी बराबर कहानी लिखते रहते तो वे इस दिशा में हिंदी-कथा साहित्य के एक नेता होते।

सूरदास

१

आठ बजे रात; बाम्बे-मेल मानिकपुर स्टेशन से खसक कर धीरे-धीरे फिर वेग से बढ़, बहुत दूर चला गया। सूरदास अभी तक प्लेटफार्म पर ही खड़ा था। कुछ देर में जब वह कोलाहलपूर्ण वातावरण नीरव हो उठा, तब उसने एक निश्चिन्तता की साँस ली और वह दक्षिण की ओर चल पड़ा।

उसके मन में आज के पैसों का हिसाब और उस शून्य प्लेटफ़ार्म पर, रात-भर जलने वाले बिजली के खड़े स्टैंड, उनकी बत्तियाँ, इधर-उधर ऊँघते आदमी और पहियेदार दूकानों से जड़ी नीरवता की कल्पना एक साथ संतोष दे रही थी!

वह सदैव इसी समय लौटता था। सुबह, दोपहर और सन्ध्याकाल उसकी प्रतीक्षा में कोलाहल से परिपूर्ण रहते। उसकी आशा गीतों में चंचल हो आलाप बना करती। रात जब मेल चला जाता और किसी दूसरी गाड़ी के

आने की सम्भावना न रहती, तब सुख की साँस छोड़ता हुआ सूरदास कन्धों पर लदी अपनी गृहस्थी सँभालता क्वार्टरों की ओर चल देता, जहाँ वह अपने रात्रि-विश्राम और भोजन की व्यवस्था करता।

चाँदनी भरी रात थी। लाइनें दूर तक चमक रही थीं। बीच-बीच में सुफ़ेद और लाल लालटेनों के प्रकाश उस दृश्य में जैसे खड़े थे। उस नीरव प्रकाश में अन्धकार-सा सूरदास चला जा रहा था।

"सूरदास!"

"काली—!" कहता हुआ सहसा वह रुक गया।

सूरदास अपने को ढीला कर रहा था। उसका हाथ पकड़े काली खड़ी थी,। जिसके वे छोटे हाथ उसकी स्मृति में आज भी वैसे ही प्रिय थे। उसको अपने निकट जानकर उसने पूछा—"कुछ खाया रे—तूने?"

"अभी कहाँ सूरदास?—और तुमने कुछ पाया?"

"हाँ—रे"—कहता, वहीं ज़मीन पर बैठकर, पैसों की अपनी थैली उसने खोल दी।

उसमें लगभग सवा रुपये के फिरते रहे होंगे। कुछ की सफ़ेदी भी चमक रही थी। सूरदास चाव से दिखा रहा था। किन्तु एक ठंढी साँस की आवाज़ से सजग होकर वह पहले ही बोल उठा—

"तू भी तो खायगी काली! जो जी चाहे ले आ। मैं भी जल्दी छुटी पा लूँ।"

"न!—मैं वैसा कुछ खाऊँगी नहीं। तू जो बतावे, ला दूँ।"

सूरदास क्या जाने क्या सोच रहा था, किन्तु उसकी बात सुनकर वह नाराज़ होने के स्वर में बड़बड़ाने लगा।

"वही रोज़ की आदत! वह कभी न छूटेगी! घर-घर माँगकर खाना। उस पर पैसों से जीभ भी ख़राब करना!—हैं-हैं—फिर अब चल दी। काली! ओ काली! अरे ओ मेरी क़सम, लौट आ।"

उसे जब उसके लौटने की पदध्वनि सुन पड़ी, तब वह चुप हुआ। कुछ क्षण मौन रहकर उसने आने की प्रतीक्षा भी की। उस समय उसके

वह एक-एक पग गिन रहा था । वह अब पास थी ।

"आ, आ—अरे मेरे पास तो आ।"—सूरदास हाथ बढ़ाकर उसे पकड़ रहा था।

"कहो न ! मैं क्या सुनती नहीं हूँ ?"

"मुझे न डाँट ! पहले सुन तो ले !" कहता, अब की सूरदास ने उसे पकड़ लिया।

"नाराज़ हो गई। अच्छा, मेरी ग़लती। रोज़ पैसों की ख़राबी समझकर ही कह रहा था। काली........।"

"वही रोज़ की बात। जब कोई खाने को दे देता है, तो क्या करूं ? पर, सरेशाम का खाया ही रहा जाता है ? इसीलिये शाम को कुछ खाकर पानी पी लेती हूँ। पर अब तो मैं तुमसे कुछ न लिया करूँगी।"

"भला री, कलिया।—हा-हा !"—सूरदास ने हँसकर कहा—"अभी तू वही बच्ची है न ? भूल गई ?—अभी उस दिन तक मेरे पैसे लिये बिना कहाँ मानती थी ? मेरे देने पर भी जब तेरी माँ तुझे मारने उठती थी, तब तू उसका कहना मानती थी ? अरे, तुझे दो गहने हो जाते और हो जाती तेरी शादी, फिर भले ही अपने घर जाकर मुझ पर नाराज़ हो लेती !"

सूरदास एक ठंढी आह भरकर उसे बच्चे की तरह लिपटाकर जैसे मनाने लगा। उसकी काली की कल्पित बालिका मूर्ति को भेद कर काली का यह नवीन दृढ़ और आतुर यौवन अपने अस्तित्व का परिचय कब दे पाया था ? सूरदास उसी बालिका को राज़ी कर देना चाहता था।

"ओह.....गहने ? मेरे अब तक के सूने हाथ ! मुझे गहने की ज़रूरत क्या ?"

"तो तू आज उलाहना देती है ? तू ने कहा कब ? ले लेना। अब तो खुश है। अच्छा अब जा, पैसे ले और जैसा चाहे कर आ। नहीं तो तुझे देर होगी। मैं तेरी राह भी देख लूँगा।"

सूरदास अपने मन में देख रहा था। काली अपनी चंचल गति में मचलती चली जा रही है। उसकी पदध्वनि ही में बँधा उसका मन भी जैसे

चला जा रहा है। आह! अब वे दोनों नहीं मिलते! फिर भी उसको संतोष था।

वह बैठ गया। सिर्फ़ थोड़े से पैसों में हठी बालिका को मना लेने से उसे कैसी सांत्वना थी! सूरदास का पुलकित प्राण फूट पड़ा। वह गा रहा था—प्रतीक्षा कर रहा था।

२

सूरदास के हृदयाकाश में कभी कलंकी चाँद उदय नहीं हुआ। वही द्वितीया के चाँद जैसी छोटी-सी बालिका, अपने कलरव से उसे मुखरित किये रही। सूरदास के अन्धकारपूर्ण हृदय पर विजय प्राप्त कर सचमुच उसकी कल्पना का विकास कहाँ हो पाया?—वही काली!—जिसके कुछ अटपटे छिटके बालों के बीच एक छोटे-से हँसी-से फूटे मुख की कल्पना की मूर्ति जैसी उसके हृदय में प्रथम परिचय के दिन अंकित हुई, आज भी उसके हृदयद्वार को खोलकर कोई देख ले, कैसी अम्लान वह चित्र-कला है!

कितनों ने ही व्यंग किये—सभी तो कहते थे—काली, नहीं, कलिया अवारा है, बदमाश है! वह लुच्चे-लफंगे लड़कों के साथ बीती रात तक ही-ही कर खेला करती है। न जाने कितने ख़राब हो रहे हैं! सूरदास के कारण ही उसे ज़्यादा कुछ कोई कहता नहीं। नहीं तो ऐसी लड़की कहीं अधिक रह पाती?—सूरदास जब-जब ऐसी बातें सुन पाता, उसका मन इन विद्रोहियों से घृणा से भर उठता। कैसे हैं ये प्रपंची आदमी! एक निरीह माता-पिता से हीन बालिका को किलकारी भरकर हँसने भी नहीं देना चाहते!—और उस एक बात को तो सुनकर उसे अपने ही प्राण मसल देने की इच्छा होती। "सूरदास भी तो…।" वह भीतर-ही-भीतर निर्जीव हो उठता। वह हृदय दबाकर रह जाता।

सूरदास के निरीह जीवन को अपनी वैभव उन्मादिनी किलकारी की निर्विकार वरमाला पहनाकर जगत में जिसने उसको गौरव के महोच्च शिखर पर बिठा दिया था—अहा!…उसकी कल्पना सूरदास के हृदय में नित्य

नवीन थी । किन्तु, वह एक निर्दय संध्या !—सूरदास उस बालिका के लिये उद्विग्न हो उठा ।

चार दिनों बाद आकाश खुला था । तीन दिनों तक एक क्षण का भी बिना विश्राम लिये गिरनेवाली बूँदों की आवाज़ उस दिन सबेरे नींद टूटने पर सूरदास ने नहीं सुनी । फिर भी उसकी आँखों के सामने का अन्धकार गहरा था । इधर काली को भी न पाकर उसके मन में अन्धकार ठोस होकर जम रहा था । सूरदास मेढकों की बढ़ी हुई आवाज़ के भीतर डरे हुए एक बालक की भाँति चंचल था ।

दोपहर के बाद कुछ प्रकाश की गर्मी पाकर सूरदास ने अपना सामान सँभाला और अपनी छड़ी से अन्दाज़ करता स्टेशन की ओर चल पड़ा । वह स्टेशन पर पहुँचा ही था कि फिर बादलों के घोष उसके कानों में पड़े । साथ ही वायु की भी सरसराहट कितने ही वृक्षों के मर्मर से भीगी अपने तीव्र वेग में थी । सूरदास, जो प्लेटफ़ार्म पर आकर बैठा था, उसके लिये ये उपद्रव बड़े ही अनिष्टकर हुए । वह उधर बरामदे की छाया में बैठने के लिये चल पड़ा ।

बड़ी ज़ोरों की वर्षा फिर आरम्भ हो गई । सूरदास बरामदे में दीवार से सटा पड़ा था । वर्षा ने दम भी नहीं लिया । धीरे-धीरे रात भी उन्हीं बूँदों में उतर आई ।

"आह डार्लिंग ! कहाँ जाती हो !"

"आई, डगलस ! वह सूरदास ही तो है । ज़रा मिल लूँ ।"

सूरदास चौंक उठा । वह उसकी काली ही की तो आवाज़ है । और—डगलस···? वह काँप उठा ।

"सूरदास, तू क्या करता है ?···आह ! बड़ी गर्मी है ! तू अपने डेरे की ओर भी तो नहीं जा सकता ?— अरे ! तू काँप रहा है ?"

सूरदास उसके प्यार से चिढ़ गया, शोख़ी से घबरा गया, और उसकी सहानुभूति नागिन के विष की तरह लहर देने लगी । वह तो एक तीव्र गंध से और भी व्याकुल हो रहा था ।

उसने पूछा—"तूने शराब पी है ?"

सूरदास आश्चर्य से पूछ रहा था। वह उसके दोनों हाथ पकड़े था और उसके मुँह को अपने पास से हटा देने के लिये उसे हटा रहा था। किन्तु उसका एक बोझ था जिसे उसने आज पहली बार जाना। खीझकर उसने डाँटने के स्वर में कहा—"काली!"

"नहीं......नहीं! वही थोड़ी सी! बड़ी अच्छी चीज़ है सूरदास! तू भी पियेगा!"

"चुप-रे-चुप!"—सूरदास कुछ डाँट कर कह रहा था।—"और यह डगलस...? वही बदमाश ड्राइवर!"

"ओह, डगलस बड़ा अच्छा है सूरदास। वह मुझे सब गहने बनवा देगा। तुम फ़िकर न करो।"

"आह...डार्लिंग? देर न करो।"

"आती हूँ, डगलस! अब मुझे जाने दो, सूरदास! मैं तुमसे फिर मिलूँगी। ...डगलस...डगलस...वह तो बड़ा अच्छा आदमी है। वह अभी ही तो मुझे उन लुच्चों से छुड़ा लाया है। कहता है—मेरी ग़रीबी काट देने के लिये वह रुपये देगा! हाँ—सूरदास जाती हूँ।...छोड़ दो।"

सूरदास की आँखों से आँसू गिर रहे थे। वह ज़ोरों से उसके हाथ पकड़े था। वह उसे बचा लेना चाहता था। उसे अपनी ओर खींचते हुये कहने लगा—

ना-ना तू बच्ची है! जानती है—डगलस है बदमाश! तू कहाँ जायगी रे?"

"ना-ना, मैं अभी आती हूँ।...देखो यह...है।"

"तू क्यों खींचता है इस मेरी बच्ची को? ...हाय रे...।" सूरदास चोट खाकर गिर पड़ा।

अब वह सुन रहा था!

हा-हा...मेरी बरसाती में तुम आ जाओ?...वह...हाँ...क्या...?"

सूरदास जैसे नींद में आ गया था। किन्तु वह क्षणिक बेहोशी थी। वह

जल्दी ही होश में आ गया है। उसके सामने अब केवल एक शून्य अंध-कार साँस भर रहा था। और भी वही झिमझिम...कड़ कड़—वह भी चिल्ला उठा — काली...?"

कुछ नहीं। वह अपने ही आप बोल उठा—डगलस ले गया। वह भी हरामज़ादी...। ओह !" वह फूट-फूटकर रोने लगा। बिलकुल बच्चों की तरह सिसक-सिसक कर चिल्ला चिल्लाकर। उसके मुँह को धोती हुई, कपड़े पर बिछलकर वे झरझर गिर रही थीं आँसू की बूँदें।

३

सूरदास जैसे अंधकार में से निकला हो! उसकी ऐसी ही नींद टूटी थी। सूरदास स्वयं इस नींद से जगकर सोचने लगा। कैसी स्तब्ध और शून्य!—जैसे मृत्यु थी! वह इतनी सुन्दर है? तभी तो—जैसे एक युग बीत गया हो! अपने जिस प्रत्यक्ष में वह उस अन्तिम पल में सोया था—वह कितनी दूर है? जिसे वह पाता नहीं। किन्तु स्मरण है। वही तो— न जाने कितनी उत्तेजना में वह दैत्य की तरह बरसात के उस बीहड़ मार्ग को रात में तै कर अपनी छाजन में आ गया। ऐसा तो उससे और कभी हुआ नहीं। पर जो उसे एक नया डर था कि कहीं कोई उसे देख न ले। वह कहाँ किसी से सामना करना चाहता था? उसके सामने अब जैसे सम्पूर्ण घटना स्पष्ट थी...वाह रे काली...हाँ...दुष्ट डगलस।—उसके भीतर जैसे बज उठा। उसकी आँखों में अपने आप फिर आँसू आ गए।

इसी समय तो वह पहले उसके पास आकर खड़ी होती थी। वह कलेवा के लिये पैसा देता था। वह काली को सोचने लगा। केवल उसकी ऐसी, बातें करना—उसी का चलना फिरना—उसी में वह जैसे डूब गया। उसके मन में वह प्राचीन अतीत कितना सजीव और प्रत्यक्ष थी। उसे जैसे कहीं आना है न जाना। वह चुपचाप वहीं पड़ा था। उसने उठने की कोई भी चेष्टा न की। सब कुछ भूल गया था।

बच्चों की तरह पड़े-पड़े ज़मीन पर लकीर बनाता हुआ वह फिर सोचने लगा।—किन्तु,वह...ओह! उसने मेरा भी कहा नहीं माना?

वह भी तो पाजी है। सब का कहना ठीक है। वह तो खुद ही मुझसे हाथ छुड़ाकर भाग गई। उँह...मुझसे मतलब ? मैं क्यों सोचता हूँ उसको ? एक ठंढी साँस भर वह चुप पड़ रहा। किन्तु वह जैसे अब निर्जीव था। पर फिर आ गई उसकी ही याद। जिसमें वह गोते खा गया। उसकी मौजों में बहने लगा। किन्तु ज्योंही उसका तार टूटता वह अशक्त और जीवनहीन हो जाता था। किन्तु उसका मन कहाँ मानता था ? न जाने कैसे फिर वह उसी मादक कुण्ड में जा पड़ता। उसकी पीड़ा नशे में जैसे हँसने लगती, प्राणों में उन्माद और हृदय में लहरें छा जातीं।

दुःख से उसका कलेजा फट गया था। पर उसमें से उसकी ही स्मृति उबली चली आती थी। कितनी—अनजान में उसने संचित की थी ! जिससे ही तो वह अवकाश न पाने पाता। उसी में वह पड़ा रहता तो कैसा सुन्दर होता ! पर, डगलस ! क्रोध और घृणा—उसकी साँस रुँध जाती। उसी पाजी ने उसे शराब पिलाया था। तभी तो वह नशे में आ गई। अह...!—उसका सब कुछ काँप उठा। वह सोच रहा था, उसने कितना कष्ट दिया होगा। अब वह पछताती होगी। किसी पेड़ की छाया में बैठकर वह सोचती होगी—मैंने क्या किया ?—घुटने के बीच उठे हुए हाथों पर उसका मुख होगा। पसीने से उभरे कंधों और गालों पर उसके बिखरे बाल चिपक रहे होंगे। उसकी आँखों में भरे होंगे आँसू। जिसकी एक-एक बूँद टूटकर गिर रही होगी उसके अंचल में। इस चित्र के साथ ही उसकी आँखों की राह धारा फूट पड़ी। उसे शीत कँपा देने लगा। वह धीरे-धीरे बेहोश हो गया।

वह बुख़ार में पड़ा था। एक सुबह जब वह जगा तब उसे क्या पता था, कितने दिन पर वह उठ रहा है ! वह एकदम निर्बल और दयनीय हो गया था। एक लज्जा का आवरण फिर भी सजीव था। उसकी स्मृतियाँ दुर्बल पड़ गई थीं। मन का चित्र धूमिल पड़ गया था। न जाने कैसी निरीहता ने उसे घेर लिया। वह अपने ही से छिपकर रहने लगा। कभी सुबह-शाम ही वह स्टेशन पर जाता। कभी किसी से कुछ माँगता नहीं। वह भूल गया था भीख माँगना। लोग कुछ पूछना चाहते, कहते—सूरदास !—वह

निरे बहरे की तरह घूम कर चल पड़ता। कभी किसी की न सुनता।

वह जैसे जीवन का बोझ उठाये, धीरे-धीरे चल रहा था। वह था बोझ ढोनेवाला मज़दूर। उसके मन में कोई कल्पना न थी, हृदय में आनन्द न था—आँखों में नींद भी नहीं थी। सारी रात वह जैसे शून्य में दौड़ा करता।

ऐसे ही में पिछले पहर की एक रात किरनों से बिंधकर लाल हो रही थी। सूरदास का मन थककर जैसे गिर रहा था। उसी समय किसी के आने की आवाज़ उसकी प्रतीक्षा को जगाने लगी।

वह और भी बिछौने में सिमट रहा था।

"सोते हो सूरदास!"

सूरदास चुप था। जैसे नींद में हो। वह अपने विश्वास को दृढ़ कर रहा था।

"सूरदास!"

"तुम हो काली?"—उसने वैसे ही पड़े रहकर धीरे से कहा।

"हाँ—मैं हूँ सूरदास?—उठो न!"

सूरदास एक मरीज़ की तरह उठकर बैठ गया। यही है काली? उसके भीतर की प्रतिमा मलिन थी। फिर भी वह ठीक मूर्तिपूजकों की तरह अपनी भावना को दृढ़ कर रहा था। उसके अन्तर से सम्पूर्ण चित्र धुल रहा था। अब केवल परिचित बालिका की हँसी और कलरव उसके उस जीर्ण हृदय में उदित हो रहे थे। आह! वह जैसे उसे पाने के लिये दौड़ा जाना चाहता था। उसने दृढ़ स्वर में पुकारा—"काली!"

काली उससे चिपट गई थी। उसकी आँखों से बरबस निकल कर न जाने कितनी बूँदें सूरदास के रूखे मुँह को धोने के लिये उतावली हो रहीं थीं। किन्तु लहरों की तरह उमड़ती अपनी रुलाई को रोकते हुए सूरदास कहने लगा—"हट, हट, भूखी लड़की! यहाँ क्या है, कुछ तेरे खाने के लिये भी तो लाऊँ।"—कहता, वह उठ खड़ा हुआ।

प्रभात की उज्ज्वल किरणों में सूरदास आज बहुत दिनों पर स्टेशन की ओर भीख माँगने चल पड़ा।

पं० विश्वम्भरनाथ शर्मा, कौशिक

कौशिक जी का जन्म सन् १८८६ में अंबाला छावनी में हुआ। किन्तु आजकल आप बंगाली-मुहाल, कानपुर, में रहते हैं।

हिन्दी-कहानी के उदयकालीन लेखकों में आपका स्थान सर्वप्रथम है। आपने पारिवारिक जीवन की कहानी लिखने में पूर्ण सफलता प्राप्त की है। अपनी कथाओं में आपने मध्यवित्त श्रेणी की आधुनिक समस्याओं को लेकर किसी-न-किसी नीतिविशेष का समर्थन करते हुए, भारतीय संस्कृति का बहुत सुन्दर स्वरूप उपस्थित किया है आपकी भाषा सरल और मुहावरेदार होती है। हिन्दीकथाकारों में एक मात्र आप ही ऐसे लेखक हैं जो पात्रों के वार्तालाप में, भाषा की स्वाभाविकता और सरलता की दृष्टि से, जनता के निकट पहुँचने में समर्थ हुए हैं।

स्वाभिमानी नमकहलाल

बहुत दौड़-धूप और चिकित्सा होने पर भी सेठ छुंगामल की दशा न सुधरी। वह प्रतिदिन चिता के निकट पहुँचते जा रहे थे। वृद्ध छुंगामल को भी यह भली भाँति विदित हो गया था कि उनकी रोगशय्या बहुत शीघ्र मृत्यु-शय्या में परिवर्तित होनेवाली है। इसीलिये उन्होंने एक दिन अपने मुनीम मटरूमल को अपने पास बुलाया। उस समय मटरूमल की आयु ६० वर्ष के लगभग थी। मटरूमल के आने पर सेठ छुंगामल ने उन्हें अपने पास बिठाकर कहा—"मुनीमजी, मेरा तो अब चल-चलाव लग रहा है, न जाने किस समय दम निकल जाय। अच्छा है। मुझे संतोष है। हाथ-पैर चलते चला जाऊँ। इससे अधिक और क्या चाहिये। मुझे कोई अभिलाषा नहीं रही—संसार के सभी सुख-दुख देख चुका। कमाया भी खूब—खर्च भी खूब किया। भगवान का दिया सब कुछ है। नाती-पोतों का मुख भी

देख लिया। बस, अब तो ईश्वर जितना शीघ्र इस कष्ट से छुड़ावे, अच्छा है।"

वृद्ध मुनीम के चेहरे पर शोकमय गम्भीरता दौड़ गई। कुछ रुँधे हुए कंठ से उन्होंने कहा—"परमात्मा आपको अच्छा कर दे। अभी आपकी उमर ही क्या है? मुझसे दो-चार बरस आप छोटे ही हैं। जब मैं हट्टा-कट्टा बैठा हूँ, तो आपका उठ खड़ा होना कौन आश्चर्य की बात है?"

सेठ छुंगामल विषादमय मृदु हास्य करके बोले—"मेरा उठ खड़ा होना बिलकुल असंभव है। मृत्यु आठों पहर मेरी आँखों के सामने खड़ी रहती है; परन्तु न-जाने वह देर क्यों कर रही है?"

मटरूमल—"आप ऐसी बातें मत सोचिए, इनके सोचने से कोई लाभ नहीं। अपने चित्त को प्रसन्न रखिए और यह विश्वास करिए कि आप अवश्य अच्छे हो जायँगे।"

सेठ छुगामल कुछ अप्रसन्न से होकर बोले—"मेरी दशा इन आशाओं से कभी नहीं सुधर सकती। ये आशाएँ और विश्वास मुझे मौत के पंजे से नहीं छुड़ा सकते।"

मुनीम जी कुछ कहने ही को थे, परन्तु सेठ जी ने उन्हें हाथ के इशारे से रोककर कहा—"मुनीम जी, आप मुझे बहलाने की चेष्टा मत कीजिए। अब लोकाचार का समय नहीं रहा। मैंने आपको जिस काम के लिये बुलाया है, उसे सुनिए और समझिए।"

मुनीम जी—मुझे जो आज्ञा हो वह मैं सदैव करने के लिये—

सेठ जी—इसके कहने की कोई आवश्यकता नहीं। आपको मेरे यहाँ रहते हुए २० वर्ष हो चुके हैं। इतने दिनों में मुझे आपके विषय में पूरी जानकारी हासिल हो चुकी है। मुझे जितना विश्वास आप पर है, उतना चुन्नू पर भी नहीं।

मुनीम जी—यह सब आपकी कृपा——

सेठ जी—कृपा नहीं, सच्ची बात है। अच्छा, जरा चुन्नू को बुलवाइए।

मुनीम जी उठकर बाहर चले गए और दस मिनट बाद लौटे। उनके साथ एक नवयुवक था, जिसकी आयु पच्चीस-छब्बीस वर्ष के लगभग होगी। मुनीम जी तथा नवयुवक दोनों सेठ जी के पलँग के पास बैठ गए।

सेठ जी कुछ देर तक आँखें बंद किये पड़े रहे। तत्पश्चात् आँखें खोलकर बोले—"बेटा चुन्नू !"

नवयुवक—हाँ पिताजी !

सेठ जी—मैं तो अब दो ही चार दिन का मेहमान हूँ।

चुन्नू—आप भी क्या बातें किया करते हैं। आप अवश्य अच्छे हो जायँगे। कल डाक्टर साहब कहते थे कि अभी कोई बात नहीं बिगड़ी। आप योंही ऐसी बातें सोच-सोचकर तबियत परेशान किया करते हैं।

सेठ जी ने इसका कुछ उत्तर नहीं दिया, आँखें बंद किये पड़े रहे। कुछ देर बाद उन्होंने आँखें खोलकर कहा—"ख़ैर, जो मैं अच्छा हो गया तब तो कोई बात ही नहीं, और यदि मैं चल ही बसा—"

चुन्नू—यह आप क्या—

सेठ जी हाथ के इशारे से पुत्र को रोककर बोले—"पहले मेरी सब बातें सुन लो, फिर जो जी चाहे कह लेना। हाँ, तो यदि मैं चल ही बसा, तो अपने पीछे तुम्हारे लिये अपने स्थान पर मुनीम जी को छोड़ता हूँ।"

चुन्नूमल ने कुछ चौंककर मुनीम जी की ओर देखा। मुनीम जी भी कुछ घबरा-से गए।

सेठ जी—जो वेतन इन्हें अब दिया जाता है, वह सदैव दिये जाना—चाहे ये काम करें, या न करें। जब कोई बड़ा काम करना, या ऐसा काम करना, जो भली भाँति तुम्हारा समझा हुआ न हो, तब पहले मुनीम जी से सलाह ले लेना और जैसा यह कहें वैसा ही करना।

चुन्नूमल आँखें फाड़-फाड़कर मुनीम जी की ओर देखते जाते थे और पिता की बातें सुन रहे थे। मुनीम जी चुपचाप सिर झुकाये बैठे थे।

सेठ जी कुछ देर दम लेने के बाद बोले—"बस, तुम्हारे लिये मेरी यह

अंतिम आज्ञा है। मुझे और किसी सम्बन्ध में कुछ नहीं कहना। तुम स्वयं समझदार हो; जो उचित समझना, करना।"

सेठ जी ने फिर कुछ देर दम लिया। तत्पश्चात् बोले—"मुनीमजी! आपसे मुझे कुछ नहीं कहना। मुझे विश्वास है कि जो व्यवहार आप मेरे साथ करते आए हैं, वही चुन्नू से भी करते रहेंगे, वरन् उससे अधिक ही करेंगे। कारण, आप इसे सदैव ही अपना पुत्रवत् समझते रहे हैं।"

मुनीम जी ने सेठ जी की बात का कोई उत्तर न दिया। सेठ जी ने मुनीम जी की ओर देखा। वृद्ध मुनीम की आँखों से आँसुओं की छोटी-छोटी बूँदें निकलकर उनके झुर्रियाँ पड़े हुए गालों पर बह रही थीं। जान पड़ता है, सेठ जी को उन बूँदों ही के द्वारा अपनी बात का उत्तर मिल गया; क्योंकि उन्होंने कुछ प्रसन्नमुख होकर दूसरी ओर करवट बदल ली।

२

सेठ जी का स्वर्गवास हुए तीन महीने बीत गए। सेठ चुन्नूमल, अपने पिता के एक-मात्र पुत्र होने के कारण, सारे कारोबार के मालिक हुए। वृद्ध मुनीम मटरूमल जिस प्रकार बड़े सेठ जी का काम करते थे, उसी प्रकार छोटे सेठ चुन्नूमल का काम-काज करने लगे। कार्यभार हाथ में लेने के पश्चात् दो महीने तक तो चुन्नूमल और मुनीम जी में ख़ूब पटी; परन्तु फिर क्रमशः चुन्नूमल को मुनीम जी काँटे की तरह खटकने लगे। इसका कारण यह था कि चुन्नूमल नवयुवक होने के कारण संसार की गति से अनभिज्ञ थे। अतएव उलटी-सीधी, जो मन में आती थी, करने के लिये तैयार हो जाते थे। परन्तु मुनीम जी यथाशक्ति उन्हें रोकते थे। चुन्नूमल मुनीम जी की बात मान तो लेते थे, पर उन्हें मुनीम जी का हस्तक्षेप करना बहुत बुरा लगता था। प्रायः मुनीम जी उन्हें डाँट भी दिया करते थे। मुनीम जी की डाँट से चुन्नूमल का गरम ख़ून उबलने लगता था। परन्तु कुछ तो पिता के अंतिम वाक्य याद करके और कुछ इस कारण से कि वह बाल्यावस्था से मुनीम जी के शासन में रहने के अभ्यस्त थे, उन्हें कुछ अधिक कहने-सुनने और मुनीमजी की बात को न मानने का साहस नहीं होता था।

एक दिन चुन्नूमल ने अपने कुछ मित्रों के साथ बाहर घूमने के लिये जाने की इच्छा की। उन दिनों काम का बड़ा जोर था, अतएव मुनीम जी ने कहा—"इस समय आपका बाहर जाना ठीक नहीं है। पंद्रह-बीस दिन रुक जाइए। जब काम कुछ हलका हो, तब चले जाइएगा। मुझमें इतनी शक्ति नहीं कि मैं सारे काम-काज की देख-भाल कर सकूँ। नौकरों के भरोसे इतना बड़ा काम छोड़ देना भी ठीक नहीं।"

चुन्नूमल नाक-भौं सिकोड़कर बोले—"मैं क्या नौकरों के पीछे-पीछे घूमा करता हूँ। आखिर मेरे रहने पर भी तो वे ही काम करते हैं!"

मुनीम जी—यह ठीक है, पर मालिक के पास रहने से नौकरों को खटका रहता है और वे कोई गड़बड़ नहीं कर सकते। जब मालिक नहीं होता, तब उनको कोई डर नहीं रहता, वे मनमाना काम करते हैं।

चुन्नूमल—यह कुछ नहीं। मैं मित्रों से चलने का पक्का वादा कर चुका हूँ, इसलिये अवश्य जाऊँगा।

मुनीम जी कुछ अप्रसन्न होकर बोले—"मैं आपको इस समय नहीं जाने दूँगा। मित्रों को कहने दीजिए। आदमी को अपना बनता-बिगड़ता देखना चाहिये, मित्र तो कहा ही करते हैं।"

चुन्नूमल मुनीम जी को अप्रसन्न होते देख चुप तो रहे, परन्तु, उन्हें उन पर बड़ा क्रोध हो आया।

उसी दिन शाम को मित्रों से साक्षात् होने पर चुन्नूमल ने कहा—"भई, मैं तो इस समय आप लोगों के साथ नहीं चल सकता।"

एक मित्र बोला—"क्यों?"

चुन्नूमल—मुनीम जी कहते हैं—इस समय काम अधिक है; मेरा जाना ठीक नहीं।

दूसरा—और तुम उस बुड्ढे खूसट की बातों में आ गये?

चुन्नू—क्या करूँ अधिक कुछ कहता हूँ तो वह अप्रसन्न होते हैं।

पहला—अप्रसन्न होते हैं, तो होने दो। वह हैं कौन? नौकर लाख कुछ हो, फिर नौकर ही है।

चुन्नू—यह ठीक है, परन्तु—

तीसरा—यार, तुम ख़ुद दब्बू हो, नहीं तो एक नौकर की क्या मजाल है जो मालिक पर दबाव डाले।

दूसरा—बात सच्ची तो यह है कि कहने को तो तुम स्वतंत्र हो गए, पर अब भी उतने ही परतंत्र हो जितने बड़े सेठ जी के समय में थे। तुम कुछ बबुआ तो हो नहीं, जो अपना बनता-बिगड़ता न समझो।"

तीसरा—अरे यार, बुड्ढा बड़ा चलता हुआ है। वह चाहता है कि तुम उसकी मुट्ठी में रहो; जितना पानी पिलावे, उतना ही पियो।

पहला—सचमुच तुम्हारे लिये यह बड़ी लज्जा की बात है।

इस प्रकार सब मित्रों ने मिलकर चुन्नूमल को ऐसा पानी पर चढ़ाया कि उन्होंने यह ठान ली कि चाहे जो कुछ हो, परन्तु अब मुनीम जी के शासन में नहीं रहेंगे।

दूसरे दिन सबेरे चुन्नूमल मित्रों के साथ जाने की तैयारी करने लगे। मुनीम जी को जो इस बात का पता लगा, तो वह बड़े कुंठित हुए और चुन्नू से बोले—"आख़िर आपने मेरा कहना न माना और जाने की तैयारी कर ही दी।"

चुन्नूमल एक तो ख़ुद ही मुनीम जी से तंग आ गये थे, दूसरे मित्रों ने भी उन्हें ख़ूब भर दिया था। वह मुनीम जी का तिरस्कार करने के लिये तैयार होकर बैठे थे, अतएव उन्होंने छूटते ही कहा—"आप होते कौन हैं जो आपकी बात मानूँ? मैं तो केवल इसलिये कि आप पुराने हैं, और पिता जी भी आपसे सलाह-वलाह ले लेने के लिये कह गए थे, आपका आदर करता हूँ, और आप सिर पर ही चढ़े जाते हैं। क्या आप चाहते हैं कि मैं सोलहों-आने आप ही के कहने पर चलूँ?"

मुनीम जी इस उत्तर के लिये तैयार न थे। वह चुन्नूमल के मुँह से—उस चुन्नू के मुँह से जिसे उन्होंने गोदियों में खिलाया था, जिसे उन्होंने सिखा-पढ़ाकर व्यापार-कला में दक्ष किया था—यह उत्तर सुनकर स्तम्भित रह गए। उन्हें कभी स्वप्न में भी इस उत्तर की आशा न थी। बड़ी देर

तक वह सन्नाटे में खड़े चुन्नूमल का मुँह ताकते और यह सोचते रहे कि आज वह दिन आ गया, जिसकी कल्पना-मात्र से उनका हृदय दहला करता था। अन्त को वह सँभलकर कुछ नम्र स्वर में बोले—"खैर, आप चाहे जो समझें, और मेरी बातों का चाहे जो अर्थ लगावें, परन्तु मैं जब तक यहाँ बैठा हूँ, तब तक उस काम के लिये सदैव टोकता रहूँगा, जिसे अनुचित समझता हूँ। मुझसे यह नहीं हो सकता कि चाहे बने या बिगड़े, मैं चुपचाप बैठा-बैठा देखा करूँ।"

चुन्नूमल गंभीरतापूर्वक बोले—"यदि आपसे नहीं देखा जाता, तो आप अपने घर बैठें।"

चुन्नूमल के इस वाक्य से मुनीम जी का रहा सहा आशा सूत्र भी छिन्न-भिन्न हो गया। उनके हृदय पर चोट लगी। इधर आत्मगौरव और स्वाभिमान ने भी हृदय पर दबाव डाला। उन्होंने सिर झुकाकर धीरे से कहा—"अच्छा, यदि आपकी यही इच्छा है, तो ऐसा ही होगा।"

चुन्नूमल मुनीम जी की इस बात से मन ही-मन प्रसन्न हुए। उन्होंने समझा—"चलो अच्छा हुआ, 'आँख फूटी पीर गई'।"

३

मुनीम जी ने चुन्नूमल के यहाँ जाना बंद कर दिया। कुछ लोगों ने, जो मुनीम जी और चुन्नूमल दोनों के शुभचिंतक थे, मुनीम जी को समझाया कि जाने दीजिये, बच्चा है, उसकी बात का बुरा न मानिये। आप अपने स्वामी—बड़े सेठ जी—की बात का स्मरण कीजिये। परन्तु मुनीम जी ने इसका उत्तर दिया—"मैं केवल अपने स्वामी की बात पर, उनके पश्चात् भी, उनके घर को अपना घर समझता रहा और सदैव समझता रहता। मैं चुन्नू की सब बातें सह सकता था, परन्तु जब उसने मुझसे साफ़-साफ़ कह दिया कि 'घर बैठो' तब रह क्या गया? मेरा हृदय इसे स्वीकार नहीं करता कि मैं अब वहाँ जाऊँ। जौहर का परखने वाला जौहरी मेरा स्वामी था, जब वही उठ गया, तो अब किसके पास आऊँ-जाऊँ!"

लोगों ने चुन्नू को भी बहुत समझाया-बुझाया कि तुम अपने दुर्व्यवहार के लिये मुनीम जी से क्षमा माँगो और उन्हें मना-मुनूकर राज़ी करो। परन्तु समझाने वालों की अपेक्षा भड़कानेवाले अधिक थे। अतएव चुन्नूमल ने इस बात पर कुछ ध्यान नहीं दिया। उन्होंने केवल इतना किया कि मुनीम जी को पेंशन के तौर पर कुछ मासिक देना चाहा परन्तु मुनीमजी ने एक पैसा तक लेना स्वीकार न किया। उन्होंने कह दिया—"मैं कभी चुन्नूमल का नौकर नहीं रहा। जिसका नौकर था उसका था। मैं चुन्नूमल का पैसा भी नहीं ले सकता।"

इस प्रकार चुन्नूमल पर जो थोड़ा बहुत अंकुश था, वह भी दूर हो गया। अब चुन्नूमल पूर्ण स्वतंत्र हो गए। स्वतंत्र होने से विलासिताप्रिय चुन्नू के ख़र्च बढ़ गए। उन्होंने अपने कारोबार पर भी उचित ध्यान देना छोड़ दिया। सब काम प्रायः नौकरों ही के भरोसे पर होने लगा। साल-डेढ़ साल इसी प्रकार काम चला। उनके कारोबार की इमारत बहुत बड़ी थी और उसकी नींव कमज़ोर हो गई थी। समय के चक्र ने उलट-फेर करके स्थित का रंग बदल दिया। चुन्नूमल की लापरवाही अन्त में वह दिन ले ही आई जिससे सेठ छंगामल का फ़र्म डगमगाने लगा। दो लाख की एक हुंडी का भुगतान था। चुन्नूमल को उसका स्मरण ही न था न उनके नौकरों और मुनीमों ने ही उस पर कुछ ध्यान रक्खा। जिस समय आदमी हुँडी लेकर दूकान पर आया उसने हुंडी का भुगतान माँगा, उस समय चुन्नूमल की आँखें खुलीं। उस समय उनके पास केवल पचास हज़ार रुपये ही तैयार थे। इसमें संदेह नहीं कि यदि दो-चार दिन पहले उन्हें उस भुगतान का ध्यान आ जाता, तो दो लाख क्या चार छः लाख का भुगतान भी दिया जा सकता था। परन्तु दो-चार दिन पहले तो क्या चुन्नूमल को एक घंटा पहले तक भी उसका ध्यान न आया। अब यदि भुगतान तुरन्त नहीं दिया जाता तो फ़र्म दिवालिया हुआ जाता है। यह एक ऐसी बात थी जिससे चुन्नूमल-जैसे लापरवाह का भी कलेजा हिल गया। उनके हाथ-पैर फूल गये आँखों-तले अँधेरा छा गया। उन्होंने

तुरंत दो-चार जगह, जहाँ उनका व्यवहार रहता था, रुपये के लिये आदमी दौड़ाए। परन्तु डेढ़ लाख की रकम सहज में मिल जाना कोई खेल नहीं था। इसके अतिरिक्त लोग चुन्नूमल की दशा देखकर उनके फ़र्म से खटक गए थे। अतएव जो दे सकते थे, उन्होंने भी इनकार कर दिया। यह स्थिति देखकर चुन्नूमल ने अपने मुनीमों से परामर्श किया कि अब क्या किया जाय। इतना बड़ा फ़र्म दिवालिया हुआ जाता है, सेठ छंगामल की सारी कीर्ति धूल में मिली जाती है।

उनके प्रधान मुनीम ने कहा—"हम क्या बतावें? जैसा आप उचित समझें, करें।"

चुन्नूमल रुआसे-से होकर बोले—"तुम लोगों की लापरवाही से ही यह दिन देखना पड़ा। शोक! यदि मटरूमल होते तो क्या ऐसी स्थिति होने पाती? वह दस दिन पहले ही से प्रबन्ध कर रखते।"

मुनीम—"इधर आपने भी काम की ओर बिलकुल ध्यान न रक्खा। हम लोग किस-किस बात का ध्यान रक्खें? एक हो, दो हों, तो ध्यान रह भी सकता है।"

इधर भुगतान देनेवाले ने कहा—"क्यों साहब, क्या देर-दार है? हुण्डी का भुगतान दीजिए।"

चुन्नू भीतर बैठे हुए मुनीमों से झगड़ रहे थे। आदमी ने जाकर उनसे यह बात कही।

चुन्नूमल ने आदमी से कहा—"कह दो—अभी भुगतान होता है, घबराएँ नहीं।"

आदमी को तो यह कहकर टाल दिया, और इधर मुनीम से बोले—"अब क्या किया जाय, कुछ तो बताओ?"

मुनीम बोला—"मेरी समझ में यदि मटरूमल जी आवें, तो वह कोई-न-कोई युक्ति निकाल ही लेंगे।"

चुन्नूमल को भी यह बात जँच गई। बोले—"अच्छा, तो जाओ, उन्हें बुला लाओ।"

मुनीम—मेरे या किसी और के बुलाये से तो वह कभी न आवेंगे। इस समय यदि आप ही जायँ, तो वह आ सकते हैं।

चुन्नू ने सिर झुकाकर कहा—"मुझे जाना पड़ेगा?"

यद्यपि चुन्नूमल को बहुत कुछ आशा थी कि मटरूमल के आने पर इस विपत्ति से छुटकारा होने की संभावना है, परन्तु फिर भी उनका हृदय मटरूमल के पास जाने में पीछे हटता था।

मुनीम—आपको जाना ही पड़ेगा। न जाइएगा तो क्या दिवालिये बनिएगा?

चुन्नूमल—अच्छा, मैं जाता हूँ। तुम उस आदमी से कह दो कि बड़े मुनीम जी को बुलवाया है, उनके आने पर भुगतान दिया जायगा।

यह कहकर चुन्नूमल ने उसी समय गाड़ी जुतवाई और मुनीम जी के मकान की ओर चले। रास्ते में वह सोचते जाते थे कि क्या मुँह लेकर उनके सामने जाता हूँ। क्या वह चले आवेंगे? इसी प्रकार सोचते हुए चुन्नूमल मुनीम जी के मकान पर जा पहुँचे। जाड़े के दिन थे। शाम हो चुकी थी। मटरूमल दुलाई ओढ़े, बैठे हुक्का पी रहे थे। उनके नौकर ने आकर कहा—"मुनीम जी, सेठ चुन्नूमल आपसे मिलने आए हैं।"

मुनीम जी चौंक पड़े। बोले—"एँ! चुन्नूमल?"

नौकर—"जी हाँ, चुन्नूमल।"

मुनीम जी कुछ देर तक सन्नाटे में बैठे रहे! तत्पश्चात् बोले—"अच्छा, बुला लाओ।"

चुन्नूमल सकुचाते हुए मटरूमल के सामने आए और आते ही उनके पैरों पर गिरकर रोने लगे। मटरूमल चुन्नूमल की यह दशा देख पहले बड़े आश्चर्यान्वित हुए; परन्तु साथ ही यह समझकर कि इन पर इस समय कोई बड़ी विपत्ति आई है, इसलिये इनकी यह दशा है, उन्होंने सप्रेम चुन्नूमल का सिर ऊपर उठाया और कहा—"क्यों बेटा, क्या बात है? इतने घबराये हुए क्यों हो?"

चुन्नूमल ने समस्त वृत्तांत कह सुनाया और फिर कहा—"इस समय

आपकी ही सहायता से हमारी नाव इस भँवर से निकल सकती है।"

मटरूमल भी यह स्थिति सुनकर घबरा गए और बोले—"इस दशा में मैं क्या कर सकता हूँ ! मेरे यहाँ रुपया होता तो मैं उठा देता। और, जो कुछ है, वह तुम्हारा ही है। तुम्हारा उससे काम चले तो ले जाओ।"

चुन्नूमल—"मैं रुपया-उपया कुछ नहीं जानता। किसी तरह एक या दो दिन के लिये यह अवसर टाल दीजिए। फिर तो दो लाख क्या, मैं दस लाख का प्रबन्ध कर लूँगा।"

मटरूमल चुन्नूमल की दशा देख और उनकी विपत्ति का हाल सुनकर विचार करने में ऐसे मग्न हो गए कि उन्हें यह ध्यान ही न आया कि यह वही चुन्नूमल है, जिसने उन्हें "घर बैठने" के लिये कह दिया था।

मटरूमल बड़ी देर तक विचार करते रहे। तत्पश्चात् बोले—"अच्छा चलो।" यह कहकर वह केवल दुलाई ओढ़े वैसे ही उठ खड़े हुए। रास्ते में चुन्नूमल मटरूमल की शांतचित्तता पर विस्मित होकर सोचने लगे—"आखिर यह करेंगे क्या ! भुगतान तो रुपये से होगा। यह वहाँ क्या करेंगे ! यह तो ऐसे निश्चिंत हैं, मानों कोई बात ही नहीं हुई।"

इसी प्रकार सोचते हुए चुन्नूमल मटरूमल के साथ अपने यहाँ पहुँचे। मटरूमल ने गद्दी पर पहुँचते ही कहा—"भाई, मैं जल्दी में चला आया, कुछ कपड़ा भी नहीं पहना। ज़रा एक अँगीठी में कोयले दहकाकर ले आओ। हाथ-पैर ठिठुर गए।" यह कहकर वह गद्दी पर बैठ गए।

चुन्नूमल ने उनके सामने हुण्डी रक्खी और बोले—"देखिए इस हुण्डी का भुगतान करना है।"

मटरूमल बोले—"भई, ज़रा उँगलियाँ सीधी कर लूँ तो देखूँ। जाड़े के मारे उँगलियाँ तो सीधी ही नहीं होतीं।"

कुछ देर के बाद दहकती हुई अँगीठी मटरूमल के सामने आई। मटरूमल कुछ देर तक उसमें हाथ सेंकने के बाद बोले—"हाँ भई, अब लाओ

हुण्डी देखूँ। बुढ़ापे में शरीर की दुर्दशा हो जाती है। मेरे तो हाथ भी अब काँपने लगे।"

यह कहकर उन्होंने हुंडी हाथ में ले ली। उसे आँखों के सामने लाए। हाथों के ठीक नीचे अँगीठी थी। अकस्मात् उनके हाथ थर्राये, और हुंडी हाथ में छूटकर अँगीठी में जा गिरी। जब तक लोगों का ध्यान उसकी ओर जाय-जाय तब तक वह जलकर राख हो गई।

भुगतान माँगनेवाले के चेहरे का रंग उड़ गया। इधर चुन्नूमल का चेहरा मारे प्रसन्नता के खिल उठा।

मटरूमल किसी के कुछ बोलने के पहले ही बोल उठे—"क्या कहूँ, हाथ ऐसे काँपे कि हुंडी सँभली ही नहीं। ख़ैर, कोई चिन्ता नहीं। (भुगतान लेनेवाले से) तुम हुण्डी की नक़ल लाओ और भुगतान ले जाओ। अभी ले आओ, अभी भुगतान मिल जाय।"

भुगतान लेनेवाला जल-भुनकर बोला—"नक़ल क्या मेरे पास धरी है। जब मँगाई जायगी, तब आवेगी। नक़ल मँगाने में तीन-चार दिन लग जायँगे।"

मटरूमल—"तो भाई, मैं इसे क्या करूँ। समय की बात है, हाथ काँप गया। बुड्ढा आदमी ठहरा। परन्तु इससे क्या, तुम्हारा भुगतान तो रह ही न जायगा।"

भुगतान लेनेवाला बोला—"भुगतान भला क्या रह सकता है; पर तीन-दिन का झमेला तो लग गया!"

मटरूमल—"अब तो लग ही गया, क्या किया जाय?"

भुगतान लेनेवाला उठ खड़ा हुआ और बोला—"अच्छा, नक़ल आ जाने पर भुगतान ले जाऊँगा।"

यह कहकर वह चला गया।

उसके जाते ही चुन्नूमल मटरूमल के पैरों पर गिर पड़े और बोले—"धन्य है आपको! मैंने आपको उस समय नहीं पहचाना था। इसीलिये

पिता जी आपका इतना आदर करते थे और अंत समय मुझे वह आज्ञा दे गए थे।"

अब मटरूमल को ध्यान आया कि उनके सामने वही चुन्नूमल है, जिसने उनसे घर बैठने के लिये कहा था! वह तुरन्त उठ खड़े हुए और बोले—"यह सब ठीक है, पर मुझे तुम्हारे वे घर बैठनेवाले वाक्य अभी याद हैं, अतएव मैं यहाँ एक क्षण भी नहीं ठहर सकता।"

यह कहकर और शीघ्रतापूर्वक जूता पहनकर वह वहाँ से चल खड़े हुए।

श्री सुदर्शन

आपका जन्म सन् १८९६ ई० में स्यालकोट में हुआ। आजकल आप बम्बई में रहते और फिल्म के लिये कहानी, सीनेरियो, संवाद और गीत लिखने का कार्य करते हैं। प्रेमचन्द जी की भाँति आप आदर्शवादी कथाकार हैं।

आप पहले उर्दू में लिखते थे। बाद में आप हिन्दी में लिखने लगे। हिन्दी में आपका अच्छा स्वागत हुआ। आपने उपन्यास और नाटक भी लिखे हैं। परन्तु सर्वाधिक सफलता आपको कहानी में ही मिली है। इस समय आप हिन्दी में आदर्शवाद के सर्वाधिक लोकप्रिय कथाकार माने जाते हैं।

मानव-हृदय के अन्दर पैठकर, उसकी यथार्थ स्थिति देखते हुए, जीवन के विकास के लिये एक आदर्श स्थापन करना आपकी कहानी की विशेषता है। आपकी भाषा बड़ी प्रवाहपूर्ण होती है। वाक्य छोटे-छोटे होते हैं, किन्तु वे प्रभाव अधिक डालते हैं।

एथेंस का सत्यार्थी

उस बीते हुए युग की कहानी है, जब यूनान ऐश्वर्य और सभ्यता के शिखर पर था और संसार की सर्वोत्तम संतान यूनान में उत्पन्न होती थी। रात का समय था, काव्य और कला की कभी न भूलनेवाली प्राचीन नगरी एथेंस पर अंधकार छाया हुआ था। चारों तरफ़ सन्नाटा था, चारों तरफ़ निस्तब्धता थी—सब बाज़ार ख़ाली थे, सब गलियाँ निर्जन थीं और यह सुन्दर और आबाद नगरी रात के अँधेरे में दूर से इस तरह दिखाई देती थी, जैसे किसी जंगल में धुँधली-सी अपूर्ण छाया का पड़ाव पड़ा हो।

पूरी नगरी पूरा विश्राम कर रही थी। उसके विद्वान् और विलासी

बेटे अपनी-अपनी शय्या पर बेसुध पड़े थे। रंग-शालाएँ ख़ाली हो चुकी थीं, विलास-भवनों के दीपक बुझा दिये गए थे, और द्वारपालों की आँखों की पलकें नींद के लगातार आक्रमणों के सामने झुकी जाती थीं; परन्तु एक नवयुवक की आँखें नींद की शान्ति और शान्ति की नींद दोनों से वंचित थीं।

यह देवकुलीश एक विद्यार्थी था, जिसकी आत्मा सत्य-दर्शन की प्यासी थी। वह एक बहुत बड़े धनवान का बेटा था, उसकी सम्पत्ति उसके लिये हर तरह का विलास ख़रीद सकती थी। वह अत्यन्त मनोहर था, यूनान-माता का सब से सुन्दर बेटियाँ उसके प्रेम में पागल हो रही थीं। वह बहुत उच्चकोटि का तत्व-वेत्ता था। उसकी साधारण युक्तियाँ भी विद्यालय के अध्यापकों की पहुँच से बाहर थीं; परन्तु उसे इस पर भी शान्ति न थी। वह सत्यार्थी था। वह सत्य की खोज में अपने-आप को मिटा देने पर तुला हुआ था। वह इस रास्ते में अपना सर्वस्व निछावर कर देने को तैयार था। मर्त्य-लोक की नाशवान खुशियाँ उसके लिये अर्थहीन वस्तुएँ थीं। यौवन और सौंदर्य की सजीव मूर्तियों में उसके लिये कोई आकर्षण न था। वह चाहता था, किसी तरह सत्य को एक बार उसके वास्तविक रूप में देख ले। वह सत्य को बेपरदा, नंगा देखना चाहता था। ऐसा नहीं, जैसा वह दिखाई देता है, बल्कि ऐसा जैसा यह वास्तव में है। वह अपनी इस मनोरथ-सिद्धि के लिये सब कुछ करने को तैयार था।

देवकुलीश रात-दिन पढ़ता था।

पढ़ता था और सोचता था। सोचता था और पढ़ता था, मगर उसके स्वाध्याय, चिन्तन और मनन से उसके प्यासे हृदय की प्यास मिटती न थी, बढ़ती जाती थी। सत्य का रोगी चिकित्सा से और ज़्यादा बीमार होता जाता था।

२

विद्यालय के आँगन में एक विशाल ऊँचा चबूतरा था, जिस पर पता नहीं कब से मिनरवा, ज्ञान और विवेक की देवी, संगमरमर के वस्त्र

पहने खड़े थी। देवकुलीश पत्थर की इस मूर्ति के बरफ़-समान पैरों के निकट आकर घण्टों बैठा रहता और संसार के रहस्य पर चिन्तन किया करता। यहाँ तक कि उसके मित्रों और सहपाठियों ने समझ लिया कि इसके मस्तिष्क में विकार उत्पन्न हो गया है। वे उसकी इस शोचनीय दशा को देखते थे और कुढ़ते थे।

उस रात भी देवकुलीश देवी के पैरों के निकट बैठा था और रो रहा था—"कृपा कर! ऐ विद्या और विज्ञान की सबसे बड़ी देवी, कृपा कर! मेरे मन की अभिलाषा पूरी कर। मैं कई वर्षों से तेरी पूजा कर रहा हूँ। मैंने कई रातें तेरे पैरों को अपने आँसुओं से धोने में गुज़ार दी हैं। मैंने कई दिन केवल तेरे ध्यान में बिता दिए हैं। मेरी प्रार्थना के शब्द सुन और उन्हें स्वीकार कर!"

देवकुलीश यह कहकर खड़ा हो गया और देवी के तेज-पूर्ण मुँह की तरफ़ देखने लगा; मगर वह उसी तरह चुपचाप थी।

इतने में चन्द्रमा आकाश में उदय हुआ। उसके सुवर्ण और सुशीतल प्रकाश में देवी की मूर्ति और भी मनोहर दिखाई देने लगी।

अब देवकुलीश फिर मूर्ति के चरणों में बैठा था और फिर उसी तरह बालकों के सदृश रो-रोकर प्रार्थना कर रहा था, मानो वह संगमरमर की मूर्ति न थी, बस दुनिया की जीती-जागती स्त्री थी जो सुनती भी है, जवाब भी देती है। बुद्धिमान देवकुलीश ने पागलपन के आवेश में कहा—"आज की रात फ़ैसले की रात है। ऐ ज्ञान और विवेक की रानी! तूने मेरे दिल में जिज्ञासा की आग सुलगाई है, तू ही उसे सत्य के शीतल जल से शान्त कर सकती है। सत्य कहाँ है?—अजर, अमर, अटल सत्य। वह सत्य जिस पर बुद्धिमान लोग शास्त्रार्थ करते हैं, जिसका पण्डित चिन्तन करते हैं, जिसे लोग एकान्त में तलाश करते हैं, मन्दिरों में ढूँढ़ते हैं, जिसके लिये दूर दूर भटकते हैं। मैं वह उच्च कोटि का सत्य देखने का अभिलाषी हूँ, नहीं तो मैं चाँद की उज्वज्ल चाँदनी के सामने तेरे पैरों की सौगन्ध खाकर कहता हूँ कि अपने निरर्थक जीवन को यहीं, इसी जगह, समाप्त कर दूँगा।

मुझे सत्यहीन जीवन की कोई आवश्यकता नहीं।"

यह कहकर देवकुलीश ने अपनी चादर के अन्दर से एक कटार निकाली और वह आत्महत्या करने को तैयार हो गया।

एकाएक सफेद पत्थर की मूर्ति सजीव हो गई। उसने देवकुलीश के हाथ से कटार छीन ली, उसे आँगन के एक अँधेरे कोने में फेंक दिया और कहा—"देवकुलीश!"

देवकुलीश काँपता हुआ खड़ा हो गया और आशा, आनन्द और सन्देह की दृष्टि से देवी की ओर देखने लगा। क्या यह सच है?

हाँ, यह सच था; देवी के होंठ सचमुच हिल रहे थे—देवकुलीश! देवकुलीश!—देवकुलीश देवी का एक-एक शब्द पूरे ध्यान से सुन रहा था।

"देवकुलीश! मौत का मार्ग अँधेरा है। तू मेरा पुजारी, मेरी आँखों के सामने इस मार्ग पर नहीं जा सकता। मेरे लिये असह्य है कि मेरे सामने कोई आत्म-हत्या कर जाय। बोल, क्या माँगता है? मैं तेरी हर-एक मनो-कामना पूरी करने को तैयार हूँ।"

देवकुलीश का दिल सफलता के आनन्द से धड़क रहा था। उसके मुँह से शब्द न निकलते थे। वह देवी के पैरों के निकट बैठ गया, और श्रद्धा-भाव से बोला—"पवित्र देवी! मैं सत्य को उसके अपने असली स्वरूप में देखना चाहता हूँ। नंगा, बेपरदा, खुला सत्य। और कुछ नहीं, बस सत्य!"

"तू सत्य को जानना चाहता है?"—देवी के होठों से आवाज़ आई—"तू आप सत्य है! यह आँगन भी सत्य है। मैं भी सत्य हूँ। आँखें खोल, सत्य दुनिया के चप्पे-चप्पे में मौजूद है।"

देवकुलीश—मगर उस पर परदे पड़े हुए हैं।

देवी—विवेक की आँख उन परदों के अन्दर का दृश्य भी देख सकती है।

देवकुलीश—पवित्र माता! मैं सत्य को विवेक से नहीं, आँखों से

देखना चाहता हूँ। मैं सोचकर नहीं देखना चाहता, देखकर सोचना चाहता हूँ।

देवी ने अपना पत्थर का सफेद, ठंढा, भारी हाथ देवकुलीश के कंधे पर रख दिया और वह मीठे स्वर में बोली—"बेपरदा, नंगा सत्य आज तक दुनिया के किसी बेटे ने नहीं देखा, न देवताओं ने किसी मनुष्य को यह वरदान दिया है। तू अन्न का कीड़ा है, तेरी आँखों में यह दृश्य देखने की शक्ति कहाँ? मेरा परामर्श है, यह ख्याल छोड़ दे और अपने लिये कोई और वस्तु माँग। मैं अभी, इसी जगह दूँगी।

देवकुलीश—यूनान की सबसे बड़ी देवी! मैं केवल नङ्गा सत्य देखना चाहता हूँ और कुछ नहीं चाहता।

देवी—मगर इसका मूल्य...

देवकुलीश—जो कुछ तू माँगे।

देवी—धन, दौलत, सौंदर्य, यश सब तुझसे छूट जायँगे। तुझे अपनी दुनिया को चाँद और सूरज के प्रकाश से भी वञ्चित करना होगा। शायद इस यश में तुझे अपने जीवन की भी आहुति देनी पड़े। बोल! क्या अब भी तू सत्य का नङ्गा रूप देखना चाहता है?

देवकुलीश—मुझे सब कुछ स्वीकार है।

देवी ने सिर झुका लिया।

देवकुलीश—परमेश्वर की सृष्टि में ऐसी कोई वस्तु नहीं, जो मैं इसके लिये न त्याग सकूँ।

देवी ने फिर सिर उठाया और मुस्कराकर कहा—"बहुत अच्छा! तू सत्य को देख लेगा, तुझे सत्य दिखा दिया जायगा, सत्य का वास्तविक, नंगा रूप तेरे सामने होगा, परन्तु एक बार नहीं, धीरे-धीरे चल! आज सत्य का परदा उठा, बाकी एक वर्ष के बाद!"

३

यह कहते-कहते देवी ने अपनी सफेद पत्थर की चादर उतारकर चबूतरे पर रख दी और देवकुलीश को गोद में उठा लिया। देखते-देखते देवी

के दोनों कंधों पर परियों के-से दो पर निकल आए। देवी ने पर खोले, और वह हवा में उड़ने लगी। पहले शहर, मन्दिरों के कलश, पर्वत, फिर चाँद, तारे, बादल सब नीचे रह गये। देवी देवकुलीश को लिये आकाश में उड़ी जा रही थी! थोड़ी देर बाद उसने देवकुलीश को बादलों के एक पहाड़ पर खड़ा कर दिया। देवकुलीश ने देखा, पृथ्वी उसके पाँव-तले बहुत दूर, बहुत नीचे एक छोटे से तारे के समान टिमटिमा रही है, और थी वह यह दुनिया, जिसको वह इतना बड़ा समझ रहा था। मगर देवकुलीश का ध्यान इस ओर न था। उसने अपने पास छाया में छिपी हुई एक धुँधली-सी चीज़ देखी, और देवी से पूछा—"यह क्या है?"

देवी—"यही सत्य है। यह छिपकर यहाँ रहता है, यहीं से तेरी और अनगिनत दूसरी दुनियाओं को अपनी दिव्य-ज्योति भेजता है। इसीके धुँधले प्रकाश में बैठकर सयाने लोग दुनिया की पहेलियाँ हल करते हैं, और गुरु अपने शिष्यों को शिक्षा देते हैं। यही प्रकाश सृष्टि का सूरज है, यही ज्योति मानव-चरित्र का आदर्श है। तू कहेगा, यह तो कुछ ज़्यादा प्रकाशमान नहीं। परन्तु देवकुलीश, तेरे शहर के निकट जो नदी बहती है, यदि उसकी सारी रेत का एक-एक कण एक-एक सूरज बन जाय, तब भी उसमें इतना प्रकाश न होगा, जितना इस पहाड़ की छाया में है, मगर वह परदों में छिपा हुआ है। चल आगे बढ़ और इसका एक परदा फाड़ दे।"

देवकुलीश ने परदा फाड़ दिया। इसके साथ ही उसे ऐसा मालूम हुआ, जैसे संसार में एक नवीन प्रकार का प्रकाश फैल गया है। सच की छाया अब पहले से ज़्यादा साफ़ और चमकदार थी। देवी देवकुलीश को फिर एथेन्स में उड़ा लाई और अपनी सङ्गमरमर की चादर ओढ़कर फिर उसी चबूतरे पर उसी तरह चुपचाप खड़ी हो गई।

अब देवकुलीश की दृष्टि में चाँदी और सोने का कोई मूल्य न था। वह लोगों को दौलत के पीछे भागते देखता, तो उसे आश्चर्य होता था। वह चाँदी को सफ़ेद लोहा और सोना को पीला लोहा कहता था, और इनकी प्राप्ति के लिये अपना परिश्रम नष्ट न करता। उसे पढ़ने की धुन

थी, वह रात दिन पढ़ता रहता था। उसके बाप ने उसका साधु-स्वभाव देख कह दिया कि इसे मेरी जायदाद में से कुछ न मिलेगा। वह कहते हैं— देवकुलीश, यह आयु जवानी और गर्म खून की है। सफ़ेद बालों और झुकी हुई कमर का ज़माना शुरू होने से पहले-पहल कुछ जमा कर ले। नहीं फिर बाद में पछतावेगा।"

देवकुलीश उसकी तरफ़ अद्भुत दृष्टि से देखता और कहता—"तुम क्या कह रहे हो, मैं कुछ नहीं समझता।"

एथेंस के एक बहुत अमीर की एक कुँआरी बेटी अब भी देवकुलीश की मोटी-मोटी काली आँखों की दीवानी थी। वह देवकुलीश की इस दीन दशा को देखती और कुढ़ती थी। देवकुलीश के खाने-पीने का प्रबन्ध भी वही करती थी, वर्ना वह भूखा-प्यासा मर जाता।

इसी तरह एक साल के तीन सौ पैंसठ दिन पूरे हो गए। रात का समय था, एथेंस पर फिर अन्धकारपूर्ण सन्नाटा छाया हुआ था। देवकुलीश ने फिर देवी के पैरों पर सिर झुकाया। देवी उसे फिर बादलों के पहाड़ पर ले गई और देवकुलीश ने सत्य का दूसरा परदा फाड़ दिया। इस बार सत्य का प्रकाश और भी साफ़ हो गया। देवकुलीश ने उसे देखा और उसकी आँखों को वह ज्ञान-चक्षु मिल गए, जो यौवन और कुमारता के लाल लहू के पीछे छिपे हुए बुढ़ापे की एक-एक झुर्री को देख सकते हैं। फिर वह अपनी बनावट और अविद्या की दुनिया को वापस चला आया। देवी फिर संगमरमर का बुत बनकर अपनी जगह पर खड़ी हो गई।

४

एक दिन उसके एक मित्र ने कहा—"देवकुलीश! आज यूनान की सब कुँआरी लड़कियाँ एथेंस में जमा हैं और आज यूनान की सबसे सुन्दरी युवती को सौन्दर्य का पहला इनाम दिया जायगा। क्या तू भी चलेगा?"

देवकुलीश ने उसकी ओर मुस्करा कर देखा और कहा—"सत्य वहाँ नहीं है।"

दूसरे दिन एक अध्यापक ने कहा—"आज यूनान के सारे समझदार लोग विद्यालय में जमा हैं। क्या तुम उनसे मिलोगे?"

देवकुलीश ने ठण्डी आह भरकर जवाब दिया—"सत्य वहाँ भी नहीं है।"

तीसरे दिन एक महन्त ने कहा—"आज चाँददेवी के बड़े मन्दिर में देवताओं की पूजा होगी। क्या तुम भी आओगे?"

देवकुलीश ने लंबी आह खींची और कहा—"सत्य वहाँ भी नहीं है।" और इस तरह इस सत्यार्थी ने जवानी ही में जवानी के सारे प्रलोभनों पर विजय प्राप्त कर ली। अब वह पूरा महन्त था; मगर वह एथेंस के किसी मेले में नजर न आता था, उसकी आवाज़ किसी सभा में सुनाई न देती थी

सत्यार्थी साल भर एकान्त में पढ़ता रहता और इसके बाद बादलों के पहाड़ पर जाकर सत्य का परदा फाड़ आता था। इसी तरह कई वर्ष बीत गए। उसका ज्ञान दिन-पर-दिन बढ़ता गया मगर उसकी आँखें अन्दर धँस गई थीं, कमर झुक चुकी थी, सिर के बाल सफ़ेद हो गए थे। उसने सत्य की खोज में अपनी जवानी बुढ़ापे की भेंट कर दी थी; मगर उसे इसका दुःख न था, क्योंकि वह जवानी और बुढ़ापे दोनों की सत्ता से परिचित हो चुका था।

और लोग समझते थे, देवकुलीश ने अपने लिये अपनी कोठरी को समाधि बना लिया है।

५

आखिर वह प्यारी रात आ गई, जिसकी प्रतीक्षा में देवकुलीश को अपने जीवन का एक-एक क्षण एक-एक वर्ष, एक-एक शताब्दि से भी लम्बा मालूम होता था।

आज सत्य के मुँह से अन्तिम परदा उठेगा। आज वह सत्य को नंगा, बेपरदा देखेगा, जिसे संसार के किसी नश्वर बेटे ने आज तक नहीं देखा। आज उसके जीवन की सबसे बड़ी साध पूरी हो जायगी।

आधी रात को उसे विवेक और विज्ञान की देवी ने अन्तिम बार गोद

में उठाया, और बादलों के पहाड़ पर ले जाकर खड़ा कर दिया।

देवकुलीश ने सत्य की ओर अधीर होकर देखा।

देवी ने कहा—"देवकुलीश! देख, इसका प्रकाश कैसा साफ़, कैसा तेज़ है। आज तक तूने इसके जितने परदे उतारे हैं, वे इसके परदे न थे, तेरी बुद्धि के परदे थे! सत्य का एक ही परदा है, आगे बढ़ और उसे उतार दे। परन्तु अगर तू चाहे, तो अब भी लौट चल। मैं तुझे सातों समुद्रों के मोती और दुनिया का सारा सोना देने को तैयार हूँ। तेरा गया हुआ स्वास्थ्य वापस मिल सकता है, तेरा उजड़ा हुआ जीवन लौटाया जा सकता है। मुझसे कह, तेरे सिर के सफेद बालों को छूकर फिर से काला कर दूँ। देवकुलीश! अब भी समय है, अपना संकल्प त्याग दे।

मगर बहादुर सत्यार्थी ने देवी का कहना न माना और आगे बढ़ा। उसका कलेजा धड़क रहा था, उसके पाँव लड़खड़ा रहे थे, उसके हाथ काँप रहे थे, उसका सिर चकरा रहा था मगर वह फिर भी आगे बढ़ा। उसने अपनी आत्मा और शरीर की सारी शक्तियाँ हाथों में जमा कीं और उन्हें फैलाकर सत्य का अन्तिम परदा फाड़ दिया।

"ओ परमात्मा!"

चारों ओर अन्धकार छा गया था; ऐसा भयानक अन्धकार, जैसा इससे पूर्व देवकुलीश ने कभी न देखा था। उसने चिल्लाकर कहा—"देवी माता! यह क्या हो गया! मुझे कुछ दिखाई नहीं देता; वह जो परदे के पीछे था, कहाँ चला गया।"

देवी ने मधुर स्वर से कहा—"देवकुलीश! देवकुलीश!!"

देवकुलीश ने अँधेरे में टटोलते हुए कहा—"देवी! मुझे बता वह कहाँ है! मैं कहाँ हूँ—तू कहाँ है।"

देवी ने अपना हाथ धीरे से उसके कंधे पर रक्खा और जवाब दिया—'देवकुलीश! तेरी आँखें नंगे सत्य का दृश्य देखने में असमर्थ होने के कारण फूट गईं। अब संसार की कोई शक्ति ऐसी नहीं, जो उन्हें ठीक कर सके। मैंने तुझसे कहा था, वह विचार छोड़ दे। परन्तु तू ने न माना,

और अब तू ने देख लिया कि जब मनुष्य सत्य को नंगा देखना चाहता है, तो वह क्या देखता है। सत्य परदों के अंदर ही से देखा जा सकता है। जब उसका परदा उतार दिया जाता है, तो मनुष्य वह देखता है, जो कभी नहीं देख सकता।

देवकुलीश बादलों के पहाड़ पर मुँह के बल गिर पड़ा और फूट-फूट कर रोने लगा।

हज़ारों वर्ष बीत चुके हैं; मगर एथेंस के सत्यार्थी की खोज अभी तक जारी है। अगर कोई आदमी बादलों के पहाड़ की सुनसान घाटियों में जा सके, तो उसे देवकुलीश के रोने की आवाज़ अभी उसी तरह सुनाई देगी।

ठाकुर श्रीनाथसिंह

जन्म—संवत् १९५८; निवास स्थान—शंकरगढ़, बारा, ज़िला इलाहाबाद। आजकल आप इलाहाबाद में रहते हैं।

ठाकुर साहब हिन्दी के पुराने पत्रकार, कहानी-लेखक तथा उपन्यासकार हैं। कहानी में जीवन-सङ्घर्ष को लेकर अपने पात्रों का कोई न कोई नवीन प्रयोग दिखलाना, परिस्थितियों पर विजय प्राप्त करने के लिये मनुष्य का बन्धन तोड़कर बढ़ना, समाज और उसकी परम्पराओं को तोड़कर अपना एक नया संसार बनाना, त्याग, तपस्या और साधनापूर्ण जीवन के भावना-प्रधान चित्र खींचना ठाकुर साहब की विशेषता है। आपकी भाषा सरल और प्रवाहपूर्ण होती है।

वापसी

१

जिस रोज पोलैंड पर जर्मनी ने हमला किया, उसी दिन कराची में सेठ कृष्णगोपाल का निम्नलिखित पत्र उनकी पत्नी को मिला—

प्रिय चन्द्र,

अभी वार्सा में एक हफ़्ता और रहने का इरादा कर रहा हूँ। जान पड़ता है, युद्ध अनिवार्य है। मेरा बहुत-सा माल यहाँ फँसा पड़ा है। कोशिश में हूँ कि मैं यहाँ से अपनी दूकान पास के किसी ऐसे देश में ले जाऊँ, जहाँ युद्ध की आशंका न हो। लेकिन योरप में आजकल कोई भी जगह युद्ध के ख़तरे से ख़ाली नहीं। मुमकिन है, जब मैं दूसरा पत्र लिखूँ, तब यहाँ तोपें गरज रही हों और यह भी मुमकिन है कि मेरा दूसरा ख़त भी तुम्हारे पास न पहुँच सके। इस बीच में अगर लड़ाई छिड़ जाय तो तुम मेरे बारे में कोई चिन्ता न करना। मैं जहाँ भी रहूँगा, सुरक्षित रहूँगा।

तुम्हारा—

कृष्णगोपाल

चन्द्रकला रोज़ ही इस ख़त को पढ़ती और अख़बारों में लड़ाई के समाचार पढ़ती, हिसाब लगाती कि किस तारीख़ को यह ख़त वहाँ से चला और वहाँ से चलने के कितने दिन बाद युद्ध छिड़ा है। इस बीच में मेरे पति कहाँ जा सकते हैं। वह योरप का 'मैप' अपने सामने रखकर सुरक्षित स्थानों की सूची बनाती।

इस तरह करते-करते पूरा एक महीना हो गया और चन्द्रकला को सेठ कृष्णगोपाल का कोई समाचार न मिला। सरकारी और गैरसरकारी, सब तरीक़ों से कोशिशें की गईं। पोलैंड में स्थित न्यूट्रल देशों के राजदूतों के ज़रिये भी जाँच करवायी गई, मगर सेठ कृष्णगोपाल की कोई ख़बर न लगी। जब वर्सा की बरबादी का समाचार पत्रों में आने लगा और पोलैंड में जर्मनी के बड़े पैमाने पर 'बम्बार्डमेंट' की ख़बर आई तब सेठ गोपालकृष्ण के परिवारवालों ने यह अनुमान किया कि वे इस युद्ध के शिकार हो गए और उनकी पोलैंड में फैली अपार सम्पदा तहस-नहस हो गई। चन्द्रकला कोठे पर अपनी खिड़की के पास बैठी रोज़ ही आकाश में कहीं-न-कहीं से वायुयान आने की आहट पाने की कोशिश करती या खिड़की के नीचे किसी-न-किसी पोस्टमैन के आवाज़ लगाने की या तार-घर के प्यून के आने की बैठी बाट जोहती।

२

चन्द्रकला उदास बैठी पोलैंड की ख़बरों पर ग़ौर कर रही थी। एकाएक उसके हाथ में घर के नौकर ने लाकर एक तार दिया। जिसका आशय यह था—"प्रिय चन्द्रकला! मैं सही सलामत हूँ। शीघ्र ही हवाई जहाज़ के जरिये कराची पहुँचूँगा। ठीक वक्त और तारीख की सूचना बाद को दूँगा। बाक़ी मिलने पर।"

इस तार को पाकर चन्द्रकला को कितनी प्रसन्नता हुई, इसका वर्णन नहीं किया जा सकता। दूसरे ही दिन उसको दूसरा तार मिला, जिसमें साफ़-साफ़ यह लिखा हुआ था कि सेठ जी किस हवाई जहाज़ से कराची पहुँच रहे हैं और वहाँ किस वक्त पहुँचेंगे।

ठीक वक्त पर सेठ कृष्णगोपाल के परिवार के लोग और चन्द्रकला कराची के एयरोड्रोम पर पहुँचे। इनके पहुँचने के क़रीब दस ही मिनट के बाद वह हवाई जहाज़ आया, जिसमें सेठ कृष्णगोपाल योरप की युद्धाग्नि से बचकर स्वदेश लौट रहे थे। जैसे ही वह हवाई जहाज़ से बाहर निकले, मित्रों और परिवारवालों की एक बड़ी भीड़ ने उन्हें घेर लिया। चन्द्रकला को जीवन में एक नया अनुभव हो रहा था। वह अपने पति को फिर से खोकर प्राप्त कर रही थी। अपने सिन्धी-समाज के नियमों को भंगकर वह परिवारवालों की भीड़ को चीरती हुई सेठ कृष्णगोपाल के अधिक निकट पहुँच गई और उनको उसने अपनी बाहु-वल्लरियों में आबद्ध कर लिया। उसके जीवन में यह पहला ही मौक़ा था, जब उसने एक सार्वजनिक स्थान में अपने पति का इस प्रकार स्वागत किया था।

जितने लोग थे उतने ही सवाल सेठ कृष्णगोपाल के सामने पेश करते थे। कोई कुछ पूछ रहा था, त कोई कुछ। कोई पूछता था, आप कैसे बच आए? कोई पूछता था, जर्मनी ने पोलैंड को इतनी जल्दी कैसे हरा दिया? कोई उनके माल-असबाब के बारे में पूछ रहा था और पोलैंडवालों की मुसीबत के बारे में सवाल कर रहा था।

सेठ कृष्णगोपाल ने सब सवाल करनेवालों से कहा—"दोस्तो, इस वक्त मैं बहुत थका हूँ। अभी तो आप लोग मुझे शान्ति से घर पहुँचने दीजिए और थोड़ा आराम करने दीजिए। मैं कल आठ बजे सुबह आप सब लोगों को अपने घर पर आमन्त्रित करता हूँ, उस वक्त मैं लड़ाई की पहली तारीख़ से लेकर कराची के हवाई स्टेशन तक पहुँचने की कहानी सुनाऊँगा।"

इस तरह सबको शान्ति मिली और सब अपने-अपने काम पर चले गये।

३

और लोग तो चले गये, परन्तु चन्द्रकला माननेवाली नहीं थी। शाम के भोजन के बाद सेठ कृष्णगोपाल को उससे अपनी सारी कथा सुनानी पड़ी। वे बोले—"वार्सा में मैं एक पोलैंड-परिवार में रह रहा था।

उस परिवार में केवल पति-पत्नी और दो छोटे-छोटे लड़के थे। बड़े लड़के की उम्र करीब आठ साल और छोटे की क़रीब २॥ साल की थी। जर्मनी का पोलैंड पर हमला होने के चार दिन पहले की बात है कि मैं उस पोल दम्पति के साथ बैठा था। उनके नौकर ने चाय लाकर मेज़ पर रख दी थी और हम लोग इस इन्तज़ारी में थे कि बड़ा लड़का, जो स्कूल गया हुआ था, लौटकर आवे तो हम सब लोग साथ-साथ चाय पियें। वे दोनों उस बच्चे को बहुत प्यार करते थे।

"लड़के ने घर में प्रवेश करते ही अपने पिता के हाथ पर कार्ड रख दिया और कहा—'पिता जी, चाय पीने का वक्त नहीं है। जितनी जल्दी हो सके, कार्ड के अनुसार कार्यवाही कीजिए।'

"कार्ड में लिखा हुआ था—'जर्मनी की ओर से हवाई हमले की बहुत बड़ी आशंका है। स्कूल के सब लड़के देहात में भेजे जा रहे हैं। आख़िरी ट्रेन तैयार खड़ी है, कृपया इस कार्ड को पाते ही अपने बच्चे को अज्ञात स्थान के लिये बिदा दीजिए। उसे रास्ते के खाने के लिये कुछ दे दीजिए और कम से कम दो कम्बल भी साथ में भेजिए।"

"हम सब ने धैर्य के साथ कार्ड को पढ़ा। उस पोल दम्पति के हृदय में पुत्र-वियोग की ज्वाला धधक उठी मगर मेरे देखते देखते वह माँ के मुख पर मुस्कान और पिता के मुख पर एक अट्टहास के रूप में बदल गई। दोनों ने हँसकर और पागलों की तरह कहा—'वाह! वाह! खूब! मेरा बेटा अज्ञात दिशा की ओर जा रहा है। क्या खूब! बड़े मज़े की जिन्दगी होगी। बड़े अच्छे अच्छे गाँव देखेगा।'

"यह कहते हुए उन्होंने बच्चे को फौरन तैयार कर दिया और हम सब लोग उसे स्टेशन पर पहुँचाने गए। स्टेशन पर कितने ही माँ-बाप अपने बच्चों को आखिरी बिदा दे रहे थे। लेकिन किसी माँ-बाप के चेहरे पर उदासी न थी, किसी की आँखों में आँसू न थे। आखिरी बार अपने कलेजे के टुकड़ों को वे लोग ख़ुशी-ख़ुशी बिदा करना चाहते थे। वे यह नहीं चाहते थे कि उनके बच्चों को उनके हृदय के अन्दर मचे हुए

हाहाकार का पता लगे; ताकि बच्चे जहाँ भी रहें, निश्चिन्त और आनन्द से रहें।

"जब गाड़ी चलने लगी, तब ट्रेन की खिड़कियों से आठ से तेरह साल तक के छोटे-छोटे बच्चों के हाथों से छोटे-छोटे रूमाल हिलने लगे और स्टेशन पर से उनके माँ, बाप, भाई और अन्य परिचितों ने रूमाल हिलाए। उस वक्त मुझको जान पड़ा, जैसे स्टेशन पर जमा हुए लोगों का हृदय रेल की शकल में बदल कर कहीं अज्ञात दिशा की ओर तेजी से चला जा रहा है। उस जुदाई के इस नज्जारे को मैं कैसे बर्दाश्त कर सका, यह बात मेरी समझ में नहीं आती।

"बच्चे को बिदा करके माँ-बाप दोनों जब घर लौटे, तब बिलख-बिलख कर रोने लगे। यह बच्चा उनको बहुत प्यारा था। उसके बग़ैर उनको अपनी ज़िन्दगी सूनी जान पड़ी; लेकिन आँसू बहाकर अपने छोटे बच्चे को बार-बार चूमकर उन्होंने इस तरह का भाव बनाया जिससे छोटे बच्चे को मालूम हो कि वे नक़ली रोना रो रहे हैं। इस तरह वे एक ही साथ अपना जी हलका करने और छोटे बच्चे का जी बहलाने लगे।

"बस शोक से उनका दिल हलका भी न हुआ था कि उनके सामने एक दूसरी समस्या उपस्थित हुई। पति के नाम एक ख़त मिला, जिसमें लिखा हुआ था—"स्वदेश की रक्षा के लिये यह लाजिमी हो गया है कि पोलैंड का हरएक युवक युद्ध में अपनी आहुति दे। इस ख़त को पाते ही आप फलाँ जगह पर इतने बजे हाज़िर हो जायँ। वहाँ आपको बतलाया जायगा कि आपको क्या करना है।'

"जो स्त्री अभी अपने पुत्र को बिदा कर चुकी थी, अब उसके सामने पति को विदा करने की समस्या थी। शीघ्र ही उसने अपने आंसू पोंछ डाले उसके होठों पर फिर मुस्कान दिखाई पड़ने लगी। उसने अपने हाथों से अपने पति के बूटों में पालिश की, उसको अच्छी पोशाक पहनाई, उसके टाई बांधी और उसके जेब में अपना स्मृति-चिह्न रक्खा। मैंने महाभारत में उत्तरा की अभिमन्यु को युद्धक्षेत्र के लिये बिदा करने की कहानी पढ़ी थी,

लेकिन उस दिन वहाँ मैंने महाभारत की इस कहानी के सच्चे दृश्य देखे।

"जिस समय वह स्त्री अपने पति को विदा कर रही थी, उसी समय वार्सा में और भी हज़ारों उत्तराएँ अपने अभिमन्युओं को विदा देने में लगी हुई थीं।

४

"उस घटना के एक ही हफ्ते बाद वार्सा-जैसा सुन्दर शहर श्मशान बन गया। सारा शहर विध्वंस हो गया। बिजली की बत्तियाँ नष्ट-भ्रष्ट हो गईं। कल-कारख़ाने सब ख़ामोश हो गए। बड़ी-बड़ी अट्टालिकाएँ सब ईंट-पत्थर का ढेर-भर रह गईं और सड़कें, बाग़ और रास्ते मर्द, बच्चों, औरतों आदि की लाशों से पट गये। ऐसा भयंकर दृश्य, ऐसा दर्दनाक नज़्ज़ारा मैंने इस जीवन में कभी नहीं देखा था। उस विनाश के करुण-दृश्य की कल्पना, उस नज़्ज़ारे का अनुमान तुम नहीं कर सकती हो, जो मैंने वार्सा में अपनी आँखों से देखा था।

"मैं अपनी दूकान की सम्पत्ति की व्यवस्था न कर सका था। मेरा ख़याल था कि लड़ाई छिड़ जाने पर भी, हार और जीत का मसला सालों बाद आवेगा। चन्द दिनों में यह विनाश उपस्थित हो जायगा, इसकी मैंने कल्पना तक न की थी। इसीलिये मुझे वार्सा छोड़ने में बड़ी कठिनाई का मुक़ाबिला करना पड़ा। बड़ी मुश्किल से अमेरिकन राजदूत की मदद से एक अमेरिकन मित्र की मोटर पर रूमानियां के लिये रवाना हुआ। रास्ते में थोड़ी दूर तक हमें रेल के साथ मोटर दौड़ानी पड़ी। रेल पर पौलैन्ड के कितने ही राज्याधिकारी और धनीमानी लोग रूमानिया जा रहे थे। चलती हुई ट्रेन के ऊपर जर्मनी के हवाई जहाज़ बिल्कुल नीचे आकर बम गिरा रहे थे। और भय से लोग रेल की खिड़कियों से कूद कूद कर अपने प्राण दे रहे थे। हमारी मोटर में अमेरिका का झण्डा लगा हुआ था, इसलिये हम लोग सही-सलामत आगे बढ़ते गए। रास्ते में हमारे ड्राइवर को जगह-ब-जगह रुकना पड़ा और सड़कों से मुर्दों को हटाकर गली साफ़ करनी पड़ी।

"इस दर्दनाक दृश्य का ज़िक्र न करना ही अच्छा होगा।"

चन्द्रकला ने पूछा—"और उस स्त्री का क्या हुआ, जिसके आप मेहमान थे ?"

"वह भी बतलाता हूँ। रास्ते-भर मैं यही सोचता रहा कि उस पोलिश नारी का, जिसके घर मैं आनन्द की ज़िन्दगी बिता रहा था, क्या होगा। उसकी गोद में जो एक छोटा सा बच्चा था, अब वही एकमात्र उसका सहारा था। और वही उसकी मुसीबत भी था। रास्ते में मैं सोचता रहा; उस बच्चे को लिये हुए वार्सा के मुर्दों में वह कहीं घूम रही होगी। या यह भी मुमकिन है कि वह भी उनके बीच में पड़ी कहीं सो रही हो। लेकिन नहीं, मुझे उसकी असह्य स्थिति भी देखनी बदी थी। जी कड़ा करके वह भी सुन लो।

"सवेरे क़रीब पाँच का वक्त था। पूरब में लाली फूट रही थी, लेकिन अभी उजाला नहीं हुआ था। हमारी मोटर धीरे-धीरे चली जा रही थी कि एकाएक हमें पास की नदी में छपछप की आवाज़ सुनाई पड़ी और उस आवाज़ पर मशीनगन के चलने की आवाज़ सुनाई पड़ी। ज्यों-ज्यों हम आगे बढ़ते गए, त्यों त्यों इस तरह की आवाज़ें भी बराबर बढ़ती गईं। ड्राइवर ने मुझसे बतलाया कि बचकर भगे हुये पोलिश मर्द-औरतों का ये रूसी सिपाही शिकार खेल रहे हैं। पोलिश लोग नदी को पार करने की कोशिश कर रहे हैं और पानी में तथा पानी से दूर तक गोलियाँ बरसाई जा रही हैं। एकाएक एक स्त्री की करुण चीत्कार ने हमारा ध्यान आकर्षित किया। ड्राइवर ने कार रोक दी। जब वह स्त्री हमारे क़रीब आई, तब मैंने देखा कि यह वह स्त्री है, जिसके घर में मैं ठहरा था। सर्द हवा बर्छी से भी तेज़ प्रतीत हो रही थी। मैं अपने दोहरे लबादे में ठिठुरा जा रहा था और इधर वह औरत इस ठंड में अपने ढाई साल के बच्चे को छाती से चिपटाये हुये कमर से ऊपर तक पानी में भीगकर और कहीं से तैरकर आई थी।

"मैंने रुद्ध कण्ठ से कहा—'अन्नपूर्णा! तुम्हारी यह दशा!' मैंने उसे

भारतीय नाम अन्नपूर्णा से ही पुकारा था; क्योंकि मुझे वह खिलाती-पिलाती थी। मुझे पहचानकर उसने कहा—'मिस्टर सेठ, मेरी और आपकी यह आखिरी मुलाक़ात है। गोदी का बच्चा क्या तुम ले जा सकते हो? इसे कहीं भेजने को जी नहीं चाहता। पर सोचती हूँ, यहाँ इस मृत्यु की आँधी में कैसे जीवित रह सकेगा?'

यह कहकर वह अवाक् हो गई। मैंने अपना ओवरकोट निकालकर उसे दिया और कहा—'अपने कपड़े को उतार दो और इसको ओढ़ लो। वह जैसी-की-तैसी खड़ी रह गई और काँपती हुई आवाज़ से बोली—'मिस्टर सेठ, मेरी उँगलियों में और हाथों में इतनी ताक़त नहीं है कि अपने कोट के बटन को खोल सकूँ।'

'मैंने कोट के बटन खोले और उसके कपड़े उतारे। उसकी कमर से भीगे कपड़े को उतारते हुए मैंने कहा—'अन्नपूर्णा! लज्जा की बात नहीं है, अभी अँधेरा है।'

वह बोली—'मिस्टर सेठ, जर्मनी ने पोलैंड की लज्जा अपहरण कर ली है। अगर पोलिश ख़ून में कुछ भी गर्मी बाक़ी रह जायगी तो पोलैंड इसका बदला ज़रूर लेगा। मगर हाय!' उसने अपने बच्चे को एक तरफ़ करते हुए कहा।

''अब कुछ-कुछ उजाला हो चला था। मेरे पीछे एक छोटी-सी बर्फ़ीली नदी मन्थर गति से बह रही थी और सामने सूरज की मन्द किरण उसके नग्न शरीर की परछाईं को बहुत विशाल बनाकर उस नदी के पानी के भीतर फेंक रही थी और वह नग्न नारी वहाँ पर प्रस्तर मूर्ति की तरह दिखाई पड़ रही थी। उस वक्त उसके हाथ में इतनी भी शक्ति न थी कि ओवरकोट को पहन सके। मैंने अपने हाथों से उसे ओवरकोट पहनाया और बच्चे को उससे लेकर गर्म कपड़ों में लपेटा। मैंने उसे कार में बैठाना चाहा, पर उसने इनकार कर दिया। उसने कहा—'नहीं, मिस्टर सेठ! तुम जाओ, मैं अपने दुःख को अपने देशवासियों के दुःख से अलग करना नहीं चाहती। पोलैंड की मिट्टी से मैं उत्पन्न हुई हूँ और इस दुःख के समय मैं पोलैंड को छोड़ नहीं

सकती। जो हाल लाख-लाख पोलैंड-निवासियों का होगा, वही मेरा होगा। पर इस बच्चे को तुम ले जाओ।' हमने उसको कुछ अमेरिकन, कुछ पोलिश सिक्के दिये और कुछ खाने-पीने की चीज़ें दीं और कुछ पहनने-ओढ़ने के कपड़े दिए और अंत में भाग्य के भरोसे उसे छोड़कर, उससे बिदा ली।"

चन्द्रकला बहुत देर तक ख़ामोश बैठी रही। अंत में सेठ कृष्णगोपाल ने कहा—"कोई आदमी पागल हो जाता है, तब वह अपने किसी साथी को क़त्ल करता है और उसे मारने दौड़ता है। और जब कोई राष्ट्र पागल हो जाता है, तब यही व्यवहार वह अपने पास-पड़ोस के राष्ट्रों के साथ साथ करता है। जिसको हम लोग युद्ध या बलवा कहते हैं, वह वास्तव में राष्ट्रों का पागलपन है।"

पति की इस बात को अनसुनी करके चन्द्रकला बोली—"और वह बच्चा कहाँ है?"

"तुम जानती हो, मैं ख़ुद छोटे बच्चों की देखरेख नहीं कर सकता। इसलिये मैंने एक दाई नौकर रख ली है। आज ही कल में वह उसके साथ दूसरे हवाई जहाज़ से आ जायगा।"

श्रीमती शिवरानी प्रेमचन्द

अवस्था—५० वर्ष; निवास-स्थान—काशी।

नाम ही से प्रकट है कि आप स्वनामधन्य प्रेमचन्द जी की धर्मपत्नी हैं। कहानी लिखने की रुचि आप में उत्पन्न हुई प्रेमचन्द जी से, उनकी नवलिखित कहानी सुनते-सुनते। आपकी कहानी का क्षेत्र प्रेमचन्दजी का ही है। उन्हीं की भाँति आप दीन-दरिद्र कृषक-वर्ग के प्रति सहृदयता और न्याय का सन्देश उपस्थित करती चलती हैं। भारतीय संस्कृति के आदर्शों का समर्थन, त्याग और साधनापूर्ण जीवन का चित्रण तथा सामाजिक अत्याचारों के प्रति घृणात्मक आघात करना आपकी विशेषता है।

क्षमा

१

आज महेन्द्र घर आए तब बहुत ख़ुश थे। अपनी पत्नी प्रभात से बोले—"मुझे सरकार की तरफ़ से इङ्गलैण्ड जाने का वज़ीफ़ा मिल रहा है। दो साल के लिए है। वहाँ से आने के बाद सिविल-सर्जन होऊँगा।"

प्रभात—यह कैसे हुआ? पहले तो आपने इसका कभी ज़िक्र तक न किया!

महेन्द्र—मुझे भी मालूम नहीं था। बड़े डाक्टर साहब ने मेरा नाम दे दिया। जब मेरी मंज़ूरी आ गई तो उन्होंने मेरा नाम बताया। डाक्टर साहब मुझसे बहुत स्नेह रखते हैं।

प्रभात—तो क्या आप जायँगे?

हुक्मनामा प्रभात के हाथ में देकर डाक्टर साहब बोले—"देखो, हुक्म आ गया है।

प्रभात—तुम्हारा जाना मुझे अच्छा नहीं लग रहा है। महीने दो महीने भी नहीं, दो-दो साल !

महेन्द्र—मैं तो डाक्टर साहब के सामने ही आगा-पीछा करता था। तुम्हारी कमज़ोरी जब मैंने डाक्टर साहब से बतलाई, तो वे बोले—'उनकी तुम्हें क्यों चिन्ता है ? वे हेडमिस्ट्रेस हैं। उन्हें ख़र्चे की कमी नहीं है और जो ज़रूरत होगी, उसके लिये मैं हई हूँ।'

प्रभात—डाक्टर साहब का यह कहना है ? मुझे तो बहुत कठिन मालूम पड़ रहा है कि दो साल कैसे बीतेंगे !

डाक्टर—तुम बच्चों की सी बातें करती हो। आज किसी दूसरे को ऐसा मौक़ा मिला होता तो वह खुश होता। बहुत से मेडिकल कालिज के ही इसके लिये लालायित हैं। दो साल कौन बहुत लम्बे दिन हैं ? वहाँ से लौटने पर मेरा वेतन १२००) तक हो जायगा। फिर तुमको तो रोज़ाना ही पत्र लिखता रहूँगा ! मेरी तो यह राय है कि तुम भी एम० ए० कर लो। आगे बढ़ने के यही तो दिन हैं।

प्रभात—आपका कहना ठीक है, पर मेरा जी माने तब न ! पुरुषों की तरह मैं कड़ा दिल नहीं बना सकती।

डाक्टर—(हँसकर) बनाने से सब कुछ बन जाता है !

प्रभात—यह तुम्हीं लोगों को शोभा देता है। मुझे तो कोई कुछ भी कहे, मैं हरगिज़ जाने को तैयार न होती।

डाक्टर—मर्द ऐसे बेवकूफ़ नहीं होते कि बैठे-बैठे रोवें। मैदान में मर्दों ही को तो उतरना पड़ता है, वे कितना भी रोवें। यह तो मेरी ख़ुशकिस्मती है कि तुम कमाती हो, नहीं तो सारा भार मेरे ही सिर रहता।

प्रभात—रोना भी कोई अपने मन से है ? रोने की बात तुम लोगों में न हो तो मैं क्या करूँ ? पुरुष वहाँ तक महसूस ही नहीं करते कि जहाँ रुलाई आती है। नहीं तो कभी आप भी रोने लगते। ईश्वर ने हमीं लोगों की क़िस्मत में रोना लिखा, क्या करूँ मजबूरी है।

डाक्टर—मेरी भी इच्छा जाने की नहीं है, पर कर्तव्य के सामने सिर झुकाना ही पड़ता है। डाक्टर साहब लिख चुके। मंज़ूरी भी आई। अब उनका कहना टाल दूँ तो वे क्या सोचेंगे? वे अपने बच्चे की तरह मुझे प्यार करते हैं। फिर जो भी जायगा, उसे अपने बीबी-बच्चे छोड़ने ही पड़ेंगे। तो मैं ही क्यों कायर बनूँ?

प्रभात—इसके माने तो यह है कि प्रेम आप लोगों की निगाह में एक बुरी चीज़ है।

डाक्टर—प्रेम तो दुनिया को रख सकता है, मैं उसे बुरा क्यों बताऊँ? अगर दुनिया से प्रेम उठ जाय, तो दुनिया में रह ही क्या जाय? प्रेम के पीछे तो इन्सान दिन-रात मरता है। इसको बुरा न कहना चाहिये। कर्तव्य के सामने तो सिर झुकाना ही पड़ता है। प्रेम में पड़कर अपना कर्तव्य न भूल जाना चाहिये।

प्रभात—कर्तव्य दो तरह के होते हैं। एक कर्तव्य तो दूसरों के प्रति होता है, जिसके सामने मैं भी सिर झुकाने को तैयार हूँ। आज मुझे मालूम होता कि आप चीनियों की सहायता करने जा रहे हैं, जहाँ डाक्टरों की ज़रूरत है, तो मैं सब तकलीफ़ें सह लेती और आपको जाने देती। मगर यह तो अपना स्वार्थ हैं। यहाँ आप न जायँ तो आपके भाई चले जायँगे। मेरी निगाह में यह कर्तव्य नहीं है। इससे और किसी का भला होगा। ऐसी हालत में कभी कर्तव्य का प्रश्न उठाना ही न चाहिये। डिगरी सभी लाते हैं। सभी डाक्टर होते हैं।

डाक्टर—तुम्हारी बातों का जवाब कैसे दूँ?

घड़ी की तरफ़ उन्होंने निगाह डाली तो दस बज गये थे। बोले—"कालेज जाने का समय हो गया। लौटकर आने पर खाना खाऊँगा।"

प्रभात—मैं भी अपने स्कूल जाती हूँ, जब हम दोनों बारह बजे लौटेंगे तो खाना खायेंगे।

दोनों अपनी-अपनी जगह चले गये।

२

आज महेन्द्र इङ्गलैण्ड जाने की तैयारी में है। अपने कपड़ों को ट्रंक में रख रहे हैं। प्रभात भी साथ-साथ लगी है; पर न जाने कैसी उसकी तबीयत अनमनी होती जा रही है। उसकी आँखों से आँसू गिर रहे हैं और उसका जी मसोस मसोस कर रह जाता है। सोचती है—एक मैं इनके प्रेम में मरी जा रही हूँ और एक ये हैं, डिग्री के पीछे मरे जा रहे हैं। जब प्रेम का ढोंग रचते भी हैं तो बीच में कर्तव्य को घुसेड़ देते हैं और कहते हैं तबीअत काबू में करो। क्या मेरे मन को भी मुझसे दुश्मनी हो गई है ? मैं भी उसी तरह अपने को क्यों नहीं बना पाती ? यही सोचते-सोचते वह फूट-फूट कर रोने लगी।

आज प्रभात दिनभर कुछ खा-पी न सकी। रात को भी भूखी ही सो रही। रोते-रोते हिचकी बँध गई तो डाक्टर की नींद खुली। डाक्टर साहब बोले—"प्रभात रो रही हो ! नहीं जाने देना चाहती हो तो सीधे कहो। रोने की बात क्या ?"

प्रभात अपनी हिचकी को क़ाबू में करती हुई बोली—"किसी तरह दिन बीत ही जायँगे। समझ लूँगी दो साल तपस्या ही कर रही हूँ।"

डाक्टर—रोने का कारण तो बताओ ? आख़िर रो क्यों रही हो ?

प्रभात जैसे दिल पर पत्थर रखकर बोली—"कुछ नहीं। यही सोचती हूँ कि कहीं मैं मर भी जाऊँ तो आप वहाँ से पहुँच न सकेंगे। फिर यहाँ मेरा कौन है ?"

डाक्टर—कहता तो हूँ, तुम्हें बराबर पत्र लिखता रहूँगा, फिर जवान आदमी को इस तरह की बात सोचनी भी न चाहिये। तुम्हें इन बातों की क्या चिन्ता ? मैं दो साल में आ जाऊँगा। आराम से हम दोनों रहेंगे। दो साल की तपस्या के बाद जीवन फिर सुखी हो जायगा।

प्रभात—सुख-दुख की तो भगवान जाने। जो आज सिर पर है, उसे देखिये।

डाक्टर—भविष्य पर दुनिया क़ायम है।

प्रभात—यह सब तुम्हारी बातें हैं।

डाक्टर प्रभात के मुँह में प्यार की चपत लगाते हुए बोले—"तुम पागल हो।" तब तक नीचे से आवाज़ आई—"डाक्टर मुकर्जी, चलिए, गाड़ी का समय हो गया।"

डाक्टर—चलिए, मैं आ गया।

डाक्टर मुकर्जी, प्रभात और महेन्द्र साथ-साथ बम्बई चले।

रास्ते-भर महेन्द्र और मुकर्जी साहब आपस में गप-शप करते रहे। प्रभात अपने विचारों में खोई-सी जा रही थी। न बोलना, न हँसना। सोने का बहाना किये मुँह ढाँपे पड़ी थी।

डाक्टर मुकर्जी—प्रभात, क्या सो गई?

प्रभात—हाँ, झपकियाँ ले रही हूँ।

"तुमने तो खाना भी नहीं खाया?"

"पेट में कुछ दर्द है।"

"दवा दूँ?"

"दवा की ज़रूरत होगी तो कहूँगी।"

महेन्द्र—छिपाती क्यों हो? डाक्टर साहब, इन्हें मेरे जाने का बहुत रञ्ज है।

डाक्टर मुकर्जी—इसमें रञ्ज होने की बात क्या है? एक पढ़ी-लिखी औरत को यह शोभा नहीं देता।

प्रभात—नहीं डाक्टर साहब, वे झूठ बोल रहे हैं।

जिस दिन सब लोग बम्बई पहुँचे उसी दिन जहाज़ छूटने को था।

प्रभात जब तक जहाज़ पर रही, उसकी आँखों से आँसू जारी रहे। जहाज़ खुलने का समय हुआ तो भोंपू बजा।

महेन्द्र—आप लोग अब उतर जाइए।

प्रभात ने हाथ मिलाने के बजाय पैर छुए। और जैसे ही पैर छूने के लिये वह झुकी, उसकी आँखों से आँसू टप-टप गिर पड़े। महेन्द्र ने प्रभात की पीठ ठोंकी और कहा—"ईश्वर से प्रार्थना करो कि सकुशल हम दोनों फिर मिलें।" और फिर महेन्द्र ने मुकर्जी के पैर छुए।

ये दोनों उतर आए। जब तक जहाज़ दिखाई पड़ता रहा, तब तक प्रभात उधर ही निगाह डाले खड़ी रही। ऐसा लग रहा था कि वह होश में ही नहीं है।

जब बहुत दूर जहाज़ आँखों से ओझल हो गया, तो मुकर्जी साहब बोले—"अब चलना चाहिये प्रभात, जहाज़ भी दूर गया।"

यह आवाज़ सुनकर प्रभात चौंक-सी पड़ी। बोली—"हाँ, चलिए।"

३

जब से प्रभात लखनऊ आई, ऐसा मालूम होने लगा, दूसरी प्रभात हो गई है। न वह चहल-पहल, न वह ख़ुशी! चाय पीना तो उसी दिन से छोड़ दिया। न उसे सिनेमा भाता न खाना। स्कूल में शायद हँसी हो, पर घर में किसी ने उसे हँसते नहीं देखा। महाराजिन के बहुत कहने पर थोड़ा-सा खाना खाती।

महराजिन—बहू जी, क्या आपकी तबीअत अच्छी नहीं रहती? जब से डाक्टर साहब गए, आप बहुत उदास रहती हैं। सूखकर काँटा हो गई हैं। अरे, अभी तो दो साल बिताने हैं। कैसे बीतेंगे? ऐसा ही करना था तो आपने जाने क्यों दिया?

महराजिन की बातों में जैसे प्रभात को अपनापा मिला।

"क्या मैं मन से नहीं खाती हूँ? खाना तो मुझे ही खाने दौड़ता-सा है। घर देखती हूँ, घर खाने दौड़ता है।"

महराजिन—चिट्ठी-पत्री आई बहू जी?

"चिट्ठियाँ ही तो आजकल आधार हैं। आठवें दिन चिट्ठी आती है। दिन में चार बार पढ़ती हूँ।"

महराजिन—नाहक़ आपने जाने दिया।

"क्या करती। वे भी मजबूर थे। उनकी भी तबीअत वहाँ नहीं लग रही है। वे भी घबरा रहे हैं।"

इन दोनों में बातें हो ही रही थीं कि तब तक डाक्टर गुप्ता की स्त्री प्रतिमा आ गईं। हँसकर बोलीं—"प्रभात, तुम तो आजकल दिखाई ही नहीं

देतीं। कहो, क्या हाल-चाल है? सूख क्यों गई हो? क्या बीमार थीं?"

प्रभात—नहीं, मैं तो बीमार नहीं हूँ। भला मुझे कुछ हो सकता है!

प्रतिमा—क्या डाक्टर साहब तुम्हें क़ैद कर गए हैं?

उनसे बातें हो ही रही थीं कि महराजिन बोली—"नहीं सरकार, जब से सरकार गए, ये खाना-पीना छोड़े बैठी हैं। न मालूम किस उधेड़-बुन में रहती हूँ।"

प्रतिमा के पास एक किताब रक्खी थी। प्रतिमा उसके पन्ने उलटने लगी। उसमें कई खत रखे थे। जैसे ही चिट्ठियाँ निकालने लगी, प्रभात बोली—"हाँ हाँ!"

प्रतिमा—देखना क्या बुरा है?

यह कह कर प्रतिमा चिट्ठियाँ हाथ में लिये दूसरे कमरे में चली गई। दरवाज़ा बन्द करके चिट्ठियों को पढ़ा। ये चिट्ठियाँ महेन्द्र की लिखी थीं। पत्र पढ़ने के बाद वह बाहर निकली और बोली—"तुम इसीसे घुल-घुल कर मर रही हो। और क्यों न मरो? जिसका पति इतना प्यार करता हो वह भला क्यों रह सकती है? मुझे तो तुम्हारे ऊपर ईर्ष्या होती है।"

प्रभात—तुमने मेरी सारी चिट्ठियाँ पढ़ लीं?

प्रतिमा—तो क्या मैंने कुछ ले लिया। थोड़ा दिलबहलाव मेरा भी हो गया। उन चिट्ठियों की महत्ता तो कम नहीं हुई। जहाँ तक मेरा ख़याल है, कुछ महत्ता बढ़ ही जायगी।

"यह महत्ता दिखलाने की चीज़ नहीं होती। मुमकिन है कि महत्ता में कुछ कमी पड़ जाय। यह वस्तु जितनी ही छिपाकर रखी जाय उतना ही अच्छा। यह उथली चीज़ नहीं। इसी से इसे सँभालकर रखना चाहिये।"

प्रतिमा—अगर तुम्हारे रत्न-श्रम मुझे मिल सकते तो मैं तैयार थी, मगर तुम दोगी?

प्रभात—मैं तुम्हें दे दूँ तो मेरे पास रह ही क्या जायगा?

प्रतिमा—तुम बड़ी ख़ुशनसीब हो।

प्रभात—मैं मरना भी सौभाग्य समझती हूँ। मुझे कुछ न मिले, पर

इतनी ही चीज मैं चाहती हूँ। बहन, जो सुख इससे मिल रहा है, वह कहीं मिल सकता है ? क्या तुम्हारे डाक्टर साहब ऐसे नहीं है ?

प्रतिमा—नहीं, वे तो बड़े निर्दयी आदमी हैं। मैं मर भी जाऊँ तो उन्हें चिन्ता न हो।

प्रभात—बनो न बहन, मैं तुम्हें जानती हूँ। तुम दूसरों का पता लगाती हो, पर दूसरों को अपना पता नहीं देतीं।

प्रतिमा—मैं सच कह रही हूँ। तभी न तुम्हारे प्रेम पर मुझे ईर्ष्या हो रही है। मुझे ऐसा प्रेम मिले तो मैं मरने को तैयार हूँ।

प्रभात—अच्छा, कभी मौका मिलेगा तो तुम्हें छकाऊँगी।

प्रतिमा ने घड़ी में देखा तो दस बज गए थे। बोली—"मौक़ा मिले तो छकाना। मैं तुमसे सच कह रही हूँ। फिर कभी आऊँगी।"

४

आजकल प्रभात का जीवन बिलकुल शून्य-सा हो गया है। जो प्रभात पहले रोते हुए को हँसाती थी, उसे देखकर ऐसा मालूम पड़ता है कि हँसने-वाले भी उसे देखकर रो पड़ेंगे। अब जो डाक्टर के यहाँ से पत्र आते हैं वे बिलकुल नीरस होते हैं। अब जो महीने, दूसरे महीने पत्र आते हैं उनसे मालूम होता है, किसी ने बेगार की है। अब उन पत्रों को प्रभात पढ़ती भी नहीं। उन्हीं पुराने पत्रों को पढ़ती है। फिर आज जब प्रतिमा आई तो बोली—"बहन तुम कभी नहीं आती हो। मुझे ही बराबर आना पड़ता है। इधर तो और भी सूख गई हो।"

प्रभात—कुछ नहीं, क्या करूँ ! इसी तरह स्कूल से लौटकर घर में बैठी रहती हूँ।

प्रतिमा—अब तो शायद दो ही चार दिन की देर है।

"हाँ, अब शायद देर नहीं है। इधर के पत्र तो बिलकुल सूखे आते हैं।"

प्रभात ने सारे ख़त प्रतिमा के सामने रख दिए। प्रतिमा पत्रों को पढ़-कर सूख सी गई। बोली—"बहन, इन पत्रों में बेगार सी टाली गई है।"

प्रभात—बहन, मैं पहले के ही पत्र पढ़ती हूँ।

प्रतिमा—मालूम होता है, डाक्टर साहब ने वहाँ रङ्ग जमाया है!

"नहीं बहन, पढ़ने में लगे होंगे। छुट्टी ही कब मिलती होगी। आजकल ही इम्तहान भी होता होगा। और तो कोई कारण मुझे मालूम नहीं देता।"

प्रतिमा—पुरुषों का हाल भगवान ही जानें।

"अब तो आने के दिन भी आ रहे हैं।"

प्रतिमा—तुम तो उन्हीं के वियोग में मरी जा रही हो। मुझे तो तुम्हारी हालत पर दुःख है। जब से गए हैं, मालूम होता है, तुम संन्यासिनी हो जाओगी।

प्रभात—तो क्या करूँ?

प्रतिमा—मैं डर रही हूँ, कहीं तुम उनके आने तक खाट न पकड़ लो।

प्रभात—नहीं, बीमार नहीं पड़ सकती। मुझे हुआ क्या है?

प्रतिमा—तो यह सब हमें दिखाने को है?

"नहीं बहन, मन ही ऐसा रहता है।"

प्रतिमा—तार आने पर बम्बई जाते हुए मुझे भी ख़बर कर देना। मैं भी स्वागत करने चलूँगी।

प्रभात हँसकर बोली—बुला लूँगी। वह तार तो पहले आए।

प्रतिमा जाते हुए कहने लगी—"अवश्य बुलाना। मैं जा रही हूँ।"

× × ×

सुबह का समय है। प्रभात जैसे ही नहाकर उठी तो दरवाज़े से नौकर दौड़ आया और बोला—"सरकार, डाक्टर साहब आ गए।"

प्रभात—क्या मुकर्जी बाबू आए हैं?

नहीं, सरकार आए हैं, जो विलायत पढ़ने गए थे।"

प्रभात पहले आधे रास्ते तक नौकर के साथ गई और बीच से लौट आई। सोचा कि फूल लेकर जाऊँ। फूल और हार अपने मेज़ से उठाकर चली। हिन्दुस्तानी तहज़ीब के अनुसार उनके गले में हार डाल, पैर पर फूल रख दिए और झुककर प्रणाम किया। बोली—ख़बर भी आने की न दी?"

डाक्टर—यों ही चला आया।

डाक्टर के साथ एक अँगरेज महिला भी थी।

प्रभात ने उनका नाम पूछा।

डाक्टर—मिसेज़ महेन्द्र।

अँगरेज़ महिला ने प्रभात का परिचय पूछा तो डाक्टर चकित। प्रभात के मुँह की तरफ़ ऐसा ताकने लगे, जैसे दया की भीख माँग रहे हों।

"मैं डाक्टर साहब की बहन हूँ"—यह कहते हुए प्रभात ने उसे गले लगाया।

डाक्टर का सिर झुक गया। प्रभात उसके साथ हँसी-खुशी अन्दर गई। दिन भर उसका मनोविनोद करती रही। शाम के वक्त अपने शादी के कपड़े ज़ेवर उस अँगरेज़ महिला को पहनाकर अपना कमरा और अपनी चारपाई देकर बोली—"अपनी चीज़ों को लो, बहन! आराम से रहो, मैं भी आराम करने जाती हूँ।" और उसे फिर गले से लगाया।

एक दरवाज़े से प्रभात कमरे से निकली और दूसरे से डाक्टर साहब ने प्रवेश किया।

डाक्टर की इच्छा थी कि नवपत्नी के सो जाने पर वह प्रभात के पैरों पर गिरे। डाक्टर सोचने लगे—यह स्त्री है? नहीं, यह तो विभूति है। आज इसने मेरी लज्जा रख ली। यही सोचते-सोचते डाक्टर को न जाने कब नींद आ गई। महिला जागती रही!

प्रभात जाकर पत्र लिखने लगी—

"प्रिय देव!

"मैं तुम्हें नमस्कार करती हूँ। तुम दोनों को आशीर्वाद भी देती हूँ। तुम दोनों सुखी रहो। जो कुछ तुमने मुझे दिया था, उसे तुमने मुझसे छीनकर दूसरे को दे दिया। मैंने जो कुछ तुमको दिया था, उसे तुमने ठुकरा दिया। पैरों के नीचे उसे मसल दिया। अब नारी कैसे जीवित रहे? इतना बड़ा अपमान पाकर जीवित रह सकती है नारी! जो मेरे पास सबसे मुल्यमान चीज़ थी, वह मैंने चढ़ाई थी। उसी शादी के पहले ही दिन। उसे तुमने

टुकरदेय मैं इस दुनिया में नहीं रहना चाहती। मैं क्या, कोई भी
स्त्री ऐ जीवित रहना पसन्द न करेगी। जिस समय तुम्हें यह
पत्र मि म मैं इस पार की दुनिया से बहुत आगे निकल जाऊँगी
मेरे इ (ो क़तरे आँसू गिरा देना। तुम दोनों को आशीर्वाद।
विदा ह ह

आपकी—

प्रभात"

र चार बजे डाक्टर की आँखें खुलीं, तो प्रभात के कमरे में धीरे-से
वहाँ पर एक पत्र रखा हुआ था। पत्र डाक्टर पढ़ गए और उसी
पाई पर "हाय प्रभात!" कहकर गिर पड़े। उनके गिरने की आवाज़ सुन
अँगरेज़ महिला भी दौड़ी आई। बोली—"क्या हुआ! और तुम्हारी
कहाँ गई?"

डाक्टर—वह बहन नहीं, मेरी देवी थी। उसे कैसे देवी कहूँ? वह
स्तान की विभूति थी।

अँगरेज़ महिला ने पत्र पढ़ा। बोली—"तुम बड़े भाग्यवान हो। मैं इस
दे के सामने कुछ भी नहीं हूँ। वास्तव में वह देवी थी।" और उसकी
आँखों से आँसु गिर पड़े।

डाक्टर के साथ वह भी रो पड़ी।